पृथ्वीराज रासो शशिवृता-विवाह

पृथ्वीराज रासो : शशिवृता-विवाह

[मूल, शब्दार्थ, प्रसंग, व्याख्या, टिप्पणी और पाठान्तर सहित]

लेखक

डॉ० कृष्णदेव शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०

प्राध्यापक हिन्दी-विभाग

रामलाल आनन्द कॉलेज, नई दिल्ली

[दिल्ली विश्वविद्यालय]

प्रकाशक

प्रकाशक :

हिन्दी साहित्य संसार
१५४३ नई सड़क, दिल्ली-६

ब्रांच
खजांची रोड, पटना-४

पंचम् संस्करण १९७७

मूल्य :
पाँच रुपये (५.००)

मुद्रक :
न्यू साहनी प्रिंटिंग प्रेस,
राजेन्द्रनगर, पटना-१६

प्रस्तुत संस्करण के विषय में

'शशिवृता-विवाह' का पंचम् परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत पुस्तक के चार संस्करणों का इतनी शीघ्रता से समाप्त हो जाना इस बात का परिचायक है कि छात्र-छात्राओं ने इससे समुचित लाभ उठाया है। यही इसकी लोक-प्रियता का परिचायक है।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में विद्वानों ने जो अमूल्य सुझाव भेजे, उन्हे यथास्थान पुस्तक में समाविष्ट कर दिया गय है। लेखक उन सबके प्रति आभार प्रकट करता है।

आशा है, 'शशिवृता-विवाह' का प्रस्तुत संस्करण छात्र-छात्राओं के लिए अत्यधिक लाभप्रद होगा।

नववर्ष, १९७७

—लेखक

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक में 'पृथ्वीराज रासो' के २३वें समय की समीक्षा व्याख्या प्रस्तुत की गई है। मूल पाठ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' का ही स्वीकार किया गया है। व्याख्या के बाद टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। पाठान्तर का भी यथास्थान निर्देश कर दिया गया है। मूलभाव कहीं विकृत न हो इसका बराबर ध्यान रखा गया है।

विश्वास है अन्य पुस्तकों की भांति, छात्रगण इसे भी अपनावेंगे।

२५ मई, १९७२

—कृष्णदेव शर्मा

विषय-सूची

आलोचना-खण्ड

व्याख्या-खण्ड

१ | 'रासो' की परम्परा

'रासो' शब्द से सम्बन्धित एवं उसी के समकक्ष छः रूप साहित्य-जगत् में मिलते हैं—रास, रासा, रासो, रासौ, रायसो और रायसा। बाल की खाल निकालने वाले खोजी मर्मज्ञों ने इन छः शब्दों की पुष्टि के लिए संस्कृत के इन छः शब्दों को खोज निकाला है—रहस्य, रसायण, राजादेश, राजपथ, रास और रासक। यद्यपि इन दोनों वर्गों में समानान्तर एवं समकक्ष रूप में कोई अभिन्न सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर भी हिन्दी-संसार 'रहस्य' शब्द को ही 'रासो' का मूल मानता है; क्योंकि 'रहस्य' का प्राकृत रूप 'रहस' तो मिलता है, किन्तु 'रासा' या 'रास' देखने में नहीं आया है, इसलिए 'रहस्य' से उसका सीधा सम्बन्ध जोड़ने में कुछ स्वाभाविकता प्रतीत नहीं होती।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन एवं आलोचकों ने 'रासो' शब्द को लेकर अनेक मान्यताओं को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। कविराज-श्यामलदीन इस शब्द का सीधा सम्बन्ध 'रहस्य' से जोड़ते हैं और डा० जायस-वाल इस मत की पुष्टि भी करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् गार्सा-द-त्तासी ने 'राजसूय' शब्द से 'रासो' की व्युत्पत्ति मानी है। पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने 'रासो' को संस्कृत के 'रास' शब्द से लिया हुआ बताया है। और पुष्टि के लिये 'रसानां समूहो रासः' दिया है। उनकी दृष्टि में 'रासो' रास या रासक का परिवर्त्तित रूप ही है। एक दूसरी दृष्टि से 'रासो' शब्द काव्य का भी प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि संस्कृत में रास शब्द का अर्थ शब्द या ध्वनिः क्रीड़ा, शृंखला, विलास, गर्जन, नृत्य और कोलाहल आदि अर्थ में मिलते हैं। अपभ्रंश ग्रन्थों में 'रास' शब्द से अभिहित अनेक ग्रन्थ मिलते है। उस काल में 'रासक' लिखने की एक प्रथा-सी प्रतीत होती है। ब्रज में भी यह शब्द खूब प्रचलित है। सम्भव है हिन्दी में वहीं से आया हो। परन्तु मतभेद इस बात का है कि खड़ी वोली में उसका रूप 'रासा' होना चाहिए था।

आचार्य शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में इस शब्द की व्युत्पत्ति 'रसायण' शब्द से मानी है, यद्यपि 'रसायण' शब्द का परि-

वर्त्तित रूप 'रासो' के रूप में प्रकट होने पर कोई आश्चर्य की बात तो प्रकट नहीं होती, फिर भी 'रसायण' से 'रासो 'तक पहुँचते-पहुँचते जो मध्य के विश्राम-स्थल हैं उनका संकेत न तो शुक्लजी ने ही किया है और न उनका कोई रूप अन्यत्र ही कहीं देखने को मिलता है। ऐसी स्थिति में 'रसायण' शब्द 'रासो' शब्द के एक क्षेत्र की ही पुष्टि कर पाता है। उसमें केवल भक्ति-रसायन, शब्द-रसायन की भाँति काव्य-रसायन की ही अनुभूति होती है। संस्कृत के 'राजयश' का सम्बन्ध जोड़ने के लिए ही 'रायसो' शब्द की कल्पना की गयी है। राजा देश और राजयश इसी का द्योतन करते हैं। 'आदेश' का आयुस रूप तो प्रचलन में दिखाई देता है। तुलसी ने कई बार 'रजायसु' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु उसके 'रायसो' अथवा 'रायसु' प्रयोग कहीं देखने को नहीं मिलते हैं।

विद्वानों ने उल्लेख किया है कि 'रासो' की हस्तलिखित अनेक पुष्पिकाओं में 'पृथ्वीराज रासक' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः इसे 'रासक' को ही संस्कृत के मूल रूप 'रासक' का प्रतिनिधि मान सकते हैं। इसकी पुष्टि संस्कृत के 'घोरक' शब्द से बने ब्रज के 'घोरो' शब्द से की जा सकती है। अतः 'रासक' के 'रासो' बनने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। मूल रूप में यही 'रासक' खड़ी बोली के 'रासा' और अवधी के 'रास' का मूल हो सकता है। प्राकृत में रासक का 'रासअ' मिलता है जो ब्रज के 'रायसो' और खड़ी बोली के 'रायसा' शब्दों के समकक्ष है। इस शब्द का अर्थ जब हम 'काव्य' करते हैं तो 'पृथ्वीराज रासो' का अर्थ 'पृथ्वीराज काव्य' हुआ। इस मान्यता में भी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पं० जगन्नाथ तिवारी तथा विन्ध्येश्वरी प्रसाद दुबे रासो को 'राजयश' का अपभ्रंश रूप मानने वालों में हैं। इनके अनुसार 'राजयश' किस-किस पर कालान्तर में रायसा रायसो रासो रूप बना है। डा० दशरथ शर्मा लिखते हैं— "रासो मूलतः ज्ञानयुक्त नृत्य-विशेष से क्रमशः विकसित होते-होते उपरूपक और उपरूपक से वीर रस के पद्यात्मक प्रबन्धों में परिणत हो गया।"

'रासो' काव्य की परम्परा

वीर गाथाकाल में चारणभाट-परम्परा काफी उन्नति कर चुकी थी। आदिकाल के प्रथम १५० वर्षों में तो काव्य-प्रवृत्ति की दृष्टि से किसी एक रस को

प्रमुखता नहीं दी जा सकती। उस समय धर्म, नीति, शृंगार और वीर आदि सभी प्रकार के भावों की रचनाओं के नमूने मिलते हैं। उस काल की रचना का माध्यम रूप छन्द दोहा ही है। जैसे-जैसे मुसलमानों के आक्रमण इस देश में प्रारम्भ हुए वैसे-वैसे ही कविता भी एक विशेष प्रवृत्ति की ओर बँधती चली गयी। शनैः-शनैः धर्म, नीति और शृंगार के फुटकल दोहों के साथ-साथ अपने आश्रयदाताओं के पराक्रमपूर्ण चरित्रों का बखान भी राज्य-सभाओं और युद्ध के मैदानों में होने लगा। यही चरितकाव्य धीरे-धीरे प्रबन्ध-परम्परा को प्राप्त होते गए। इन्हीं की विस्तृत परम्परा हमें रासो काव्य में देखने को मिलती है।

धीरे-धीरे कवियों की भी एक श्रेणी बनती चली गई, क्योंकि इस समय तक आते-आते राजा भोज की सभा में राजा की दानशीलता का वर्णन करने के पश्चात् लाखों रुपये पाने वाले कवियों का उतना सम्मान नहीं होता था, जितना कि पराक्रम, विजय और शत्रु की कन्या का अपहरण करने की घटना का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करने वाले कवि को हुआ करता था। रणक्षेत्र में वीरों के हृदय में उत्साह और उमंग की तरंग भरने वाला कवि ही सम्मान का अधिकारी माना जाने लगा। इस प्रकार वीरगाथा-काल के प्रारम्भिक १५० वर्ष के साहित्य को छोड़ देने के पश्चात् काव्य का जो विषय रहा है वह प्रधान रूप से युद्ध और प्रेम ही रहा है। इन वर्णनों का प्रधान रस वीर और शृंगार ही रहा करता था,। पर शृंगार गौण रूप में ही कार्य करता दिखायी देता है। ये वीरगाथायें उस समय के प्रबन्ध-काव्यों में तो मिलती ही हैं, परन्तु उनकी वास्तविकता 'वीर गीत' ही माना जा सकता है। प्रबन्ध काव्य के रूप में मूल ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' है और 'वीर गीत' के रूप में सब से प्राचीन 'बीसलदेव रासो' है। इस प्रकार चारण-भाट-परम्परा में गाए गए वीर गीतों और चरित काव्यों की परम्परा हमें रासो काव्यों में उपलब्ध होती है। रासो-काव्य-परम्परा के उपलब्ध ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

सन्देश रासक

रासो काव्य की परम्परा का प्रारम्भ अपभ्रंश की कृति 'सन्देश रासक' से हुआ है। यह इस काल की प्रामाणिक कृति है। ग्यारहवीं शताब्दी के मुसलमान कवि अब्दुर्रहमान ने इसकी रचना की है। कथानक की दृष्टि से यह काव्य मर्मस्पर्शी है। एक पथिक अपनी राह तय करता हुआ मुल्तान की ओर जा

रहा था। मार्ग में उसका परिचय एक विरहिणी स्त्री से होता है। उसका पति किसी कार्य के वशीभूत हुआ विदेश गया हुआ था। विरह-काल में उसे विभिन्न प्रकार के कष्टों को सहन करना पड़ा था। उन्हीं कष्टों की अनुभूति-जन्य एवं आपबीती कहानी वह पति को सन्देश-रूप में उस पथिक को सुनाती है। इस सन्देश में करुणा स्वयं टपकती है। इसकी उपमाएँ परम्परागत होने पर भी अनुभूति की मार्मिकता चू पड़ती है। ऋतुओं के वर्णन में वाह्य प्रकृति का वर्णन तो हुआ है, फिर भी आन्तरिक भावों की व्यंजना उससे दब नहीं पायी है।

विकास-परम्परा की दृष्टि से इस ग्रन्थ का वस्तु-वर्णन पृथ्वीराज रासो आदि से तो भिन्न है ही, पुनश्च बीसलदेव रासो आदि से इसकी पर्याप्त समानता भी मिलती है। उसके समान ही इसमें गेय छन्दों की प्रधानता है और प्रेमभाव का आधिक्य है। इस परम्परा के अन्य ग्रन्थ हैं—खुमानरासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, विजयपाल रासो, परमाल रासो, आदि। क्रमशः इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

खुमान रासो

इस काव्य के रचयिता दलपति विजय हैं। ये मेवाड़ के राजा खुमान द्वितीय के समकालीन थे। आचार्य शुक्ल ने तीन खुम्माणों का उल्लेख किया है। द्वितीय खुम्माण (वि० सं० ८७०-९००) की लड़ाई ही अलमामू की सेना से हुई होगी। इसी का उल्लेख खुमान रासो में मिलता है। इसकी रचना की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। हमारा मन्तव्य यहाँ रासो के वस्तुगत वर्णन से है। इस काव्य में युद्ध-वर्णन की प्रधानता है। स्थान-स्थान पर शृंगार-वर्णन के प्रसंग भी आए हैं। इसकी भाषागत विशेषताओं के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि यह कृति विभिन्न समयों में विभिन्न कवियों के हाथ का खिलौना रही है, इसलिये इसमें प्रक्षिप्त अंश अधिक हैं। मूलरूप की तो इसमें एक स्पष्ट झाँकी ही देखने को मिलती है। इस कृति में महाराणा प्रताप तक का वर्णन मिलता है, अतः इसे १७वीं शताब्दी की कृति कहने में कोई दोष नहीं होगा। यह हो सकता है कि इसका कुछ अंश दशम शताब्दी का भी हो। इसलिये इसकी काव्य-कुशलता के विषय में कोई निश्चित रूप निर्धारित नहीं किया जा सकता।

बीसलदेव रासो

यह काव्य-ग्रन्थ रासो-परम्परा की प्रमुख कृति मानी जाती है। इसके रचयिता नरपति नाल्ह हैं, परन्तु इन्होंने अपने जीवन-परिचय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। 'बीसलदेव रासो' १०० पृष्ठों का एक छोटा-सा ग्रन्थ है। यह वीरगीतों का काव्य है। ग्रन्थ के सम्बन्ध में केवल इतना ही लिखा हुआ मिलता है—

"बारह सै बहोत्तराँ मझारि।
जैठ वदी नवमी बुधवारि॥
नाल्ह रसायण आरंभइ।
शारदा तूठी ब्रह्म कुमारि॥"

'बारह सैं बहोत्तर' का अर्थ द्वादशोत्तर के आधार पर शुक्लजी ने १२१२ किया है। गणना करने पर विक्रम सं० १२१२ में ज्येष्ठ वदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है। वर्णन में वर्त्तमान काल का प्रयोग होने के कारण कवि राजा का समकालीन प्रतीत होता है, क्योंकि बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) का समय भी १२२० के लगभग ही है। उस काल के कुछ शिलालेख भी प्रमाण रूप में उपलब्ध होते हैं।

इस काव्य-ग्रन्थ की कई प्रतियाँ उपलब्ध हैं, जिनसे रचना-काल भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। इनमें जयपुर की और बीकानेर की ये दो प्रतियाँ प्रामाणिक मानी जाती हैं। प्रथम के अनुसार नरपति नाल्ह विग्रहराज चतुर्थ के राजकवि थे और द्वितीय के अनुसार कवि विग्रहराज द्वितीय का समकालीन था। गौरीशंकर हीरानन्द ओझा इसका निर्माण-काल १३५८ मानते हैं।

इस काव्य की कथावस्तु लगभग २१५ छन्दों में परिसमाप्त है। कथा का सार चार भागों में विभक्त है—१. इस खण्ड में मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से साँभर के बीसलदेव के विवाह का वर्णन है—२. दूसरे खण्ड में बीसलदेव का राजमती से रूठकर उड़ीसा की ओर प्रस्थान करना और एक वर्ष तक वहीं वास करने का उल्लेख है। ३. तृतीय खण्ड में राजमती का विरह-वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटने का वर्णन है। ४. इस खण्ड

में राजमती का पिता अपनी पुत्री को अपने घर ले जाता है तथा बीसलदेव वहाँ पहुँचकर राजमती को फिर से चित्तौड़ लौटा कर लाता है। उड़ीसा-यात्रा करने पर रानी का जो विरह-वर्णन है, वह अत्यन्त सहृदयता का सूचक है। पिता के घर पहुँचने पर भी पति की प्रतीक्षा में उसकी हार्दिक इच्छाओं का सुन्दर वर्णन कवि ने किया है। दस वर्ष व्यतीत होने पर वह पण्डित के हाथ से पत्र भेज कर राजा को बुलवाती है। उधर राजा के उड़ीसा से लौटने के निश्चय पर जो उड़ीसा की सुन्दरियों का आग्रह है वह भी मार्मिक वन पड़ा है। अन्त में उड़ीसा-नरेश उसे बड़े आदर और धन-सम्पत्ति के साथ विदा करता है। मालवा में उसका स्वागत होता है। अन्त में वह राजमती को अपने साथ लेकर बड़ी धूमधाम के साथ राज्य में प्रवेश करता है। इस कृति की ऐतिहासिकता में चाहे विद्वानों को सन्देह हो, परन्तु इसकी साहित्यिकता सराहनीय है।

पृथ्वीराज रासो

रासो परम्परा की आदरणीय कृति चन्दवरदायी-कृत पृथ्वीराज रासो है। विषय-वस्तु की ऐतिहासिकता और भाषा की विभिन्नरूपता की दृष्टि से यह कृति अत्यधिक विवाद का कारण वनी रही है। यदि हम इन दोनों पक्षों को गौण मानकर केवल काव्यत्व की दृष्टि से इसका मूल्यांकन करें तो इसका मूल्य परम्परा की सम्पूर्ण कृतियों में सर्वाधिक सिद्ध होता है। इसमें विभिन्न भावों का सुन्दर चित्रण है, अनुभावों की अनुपम योजना है, ऋतु-वर्णन में सजीवता है, रस-परिपाक में सिद्धहस्तता है। कवि ने सफलता से भाव-भूमि को स्पर्श किया है। कलापक्ष की दृष्टि से भी यह काव्य महत्त्वपूर्ण है। भाषा पर कवि का असामान्य अधिकार दिखलायी देता है। कवि चन्द-छन्द के तो धनी हैं ही। अलंकार ने सहज और स्वाभाविक रूप में अपनी छटा दिखा दी है।

यह काव्य-ग्रन्थ ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रन्थ है। जिसमें ६९ समय (अध्याय) है। इसके मुख्य छंद हैं—दोहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, आर्या,। इसका पिछला भाग चन्द के पुत्र जल्हण द्वारा पूर्ण किया हुआ माना जाता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में वीररस प्रधान है और शृंगार गौण। शत्रुपक्ष की

कन्याओं के हरण में जो वर्णन मिलते हैं, उनमें 'उत्साह, तथा स्थायी भाव का सुन्दर विवेचन है। पृथ्वीराज, जयचन्द, संयोगिता, चन्दवरदायी, गोरी आदि इसके प्रधान पात्र हैं।

पृथ्वीराज रासो के उपरान्त रासो काव्य-परम्परा में तीन कृतियों का उल्लेख है। वे हैं—हम्मीर रासो, विजयपाल रासो और परमाल रासो। प्रथम के रचयिता शार्ङ्गधर, द्वितीय का कोई अज्ञात तथा तृतीय रचना के कोई कवि नल्लसिंह हैं। इनके अतिरिक्त मुसलमान कवि न्यामत खाँ का 'कायमरासा, कुम्भकर्ण कृत' रतनरासो, सिढायच दयालदास कृत 'राणारासो' जोधराजकृत 'हम्मीररासो' गुलाब कविकृत 'करहिया रो रायसो' जल्हकृत 'बुद्धि रासो' ग्रन्थ मिलते हैं। विकास-परम्परा में इनका उल्लेख नाममात्र को किया जा सकता है, क्योंकि जनमुख तक इनकी प्रसिद्धि नहीं हो पायी है। इनमें सर्वाधिक मान पृथ्वीराज रासो को प्राप्त हुआ है। काल की दीर्घ परम्परा पर पृथ्वीराज रासो की अमिट छाप लग चुकी है। इसमें इतिहास और कल्पना का योग तो है ही, साथ ही विजय, चिन्ता, आशा, अवसाद, क्षोभ, आदि का जो चित्रण हुआ है वह अत्यधिक मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक है। अपने इन्हीं आधार-स्तम्भों पर यह काव्य-कृति सुदीर्घ काल तक अपना अस्तित्व बनाये रहेगी, ऐसी आशा की जा सकती है।

२ | पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता का प्रश्न हिन्दी साहित्य का सबसे अधिक विवादग्रस्त विषय बना हुआ है। इसके विषय में विभिन्न उच्च-कोटि के विद्वानों के इतने मत प्राप्त हुए हैं कि उनमें हिन्दी साहित्य के इतिहास का विद्यार्थी यह निश्चय नहीं कर पाता कि किस मत को सत्य माना जाए। अतः विवेचन की सुविधा के लिए आलोचकों से मतों की समानता के आधार पर उन्हें चार भागों में विभाजित कर लिया है, जो निम्नलिखित हैं—

प्रथम वर्ग

रासो को प्रामाणिक तथा पृथ्वीराज की समकालीन रचना मानता है। इस पक्ष में डा० श्यामसुन्दरदास, मथुराप्रसाद दीक्षित, पं० मोहनलाल-विष्णु लाल पंड्या, मिश्रबन्धु मोतीलाल मेनारिया आदि हैं। इनमें से कुछ रासो के प्रक्षिप्त अंशों का बहुत बड़ी संख्या में होना भी मानते हैं।

द्वितीय वर्ग

रासो को सर्वथा अप्रामाणिक रचना मानता है, वह पृथ्वीराज के दरबार में चन्द कवि का अस्तित्व तथा रासो को पृथ्वीराज की समकालीन रचना भी नहीं मानते। इस पक्ष के समर्थकों में कविराजा श्यामलदास, कविराजा मुरारिदान, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डाक्टर बूलर, मारिशन, मुन्शी देवीप्रसाद, श्री अमृतलाल तथा रामचन्द्र शुक्ल हैं।

तृतीय वर्ग

यह पक्ष मानता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चन्द नामक कवि था जिसने रासो लिखा था परन्तु वह अपने मूलरूप में अप्राप्य है। आज उसका परिवर्त्तित एवं परिवर्द्धित विकृत रूप ही उपलब्ध है। इस पक्ष के समर्थकों में डा० सुनीतिकुमार, मुनि जिनविजय, अगरचन्द नाहटा तथा डा० दशरथ शर्मा, कविराज मोहनसिंह, हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं।

चतुर्थ वर्ग

यह पक्ष मानता है कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन था, परन्तु उसने प्रवन्ध रूप में रासो की रचना नहीं की। यह पक्ष जैन ग्रन्थमाला में प्राप्त पदों को उसकी फुटकल रचना मानता है। नरोत्तम स्वामी का भी यही मत है।

कर्नल टाड ने राजस्थानी साहित्य का इतिहास लिखने में, "पृथ्वीराज रासो को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानकर, पूर्ण सहायता ली थी। रायल एशियाटिक सोसाइटी इस गन्थ का प्रकाशन कर रही थी। उसके उपरान्त कविराजा श्यामलदास ने रासो की अप्रामाणिकता का प्रश्न उठाया। इस पर पांड्याजी ने पुष्ट-प्रमाणों के आधार पर रासो को असली ग्रन्थ घोषित किया। कुछ वर्ष हुए मुनि जिनविजय जी को 'पुरातन प्रवंध-संग्रह' में अपभ्रंश भाषा में लिखे चन्द के चार ग्रन्थ मिले, इससे अनुमान लगाया गया कि रासो पूर्णतः जाली नहीं है। अव तक रासो का बृहत् रूप ही प्राप्त था, पर अव उसकी दो लघुतम प्रतियाँ प्राप्त होने के कारण पं० मथुराप्रसाद दीक्षित और डा० दशरथ शर्मा ने रासो को प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। आजकल अधिकांश विद्वानों का मत यही है कि रासो लिखा अवश्य गया था, परन्तु श्रव्य-काव्य होने से उसके वर्त्तमान रूप में बहुत कुछ परिवर्त्तन हो गया है।

प्रधानतः रासो को अप्रामाणिक मानने के दो कारण हैं—घटना-वैषम्य और काल-वैषम्य। इसमें इतिहास-सम्वन्धी अनेक भ्रान्तियाँ हैं, जिनका आधार अनेक शिलालेख, ताम्रपत्र और डॉ० वूलर को जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय' नामक काव्य की खण्डित प्रति है। घटना-वैषम्य के प्रधान कारण यही है। रासो में दिये गये अधिकांश नाम और घटनाएँ इतिहास-सम्मत नहीं हैं। रासो परमार चालुक्य और चौहान-क्षत्रिय अग्निवंशीय माने गये हैं, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों एवं शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं। साथ ही चौहानों की वंशावली पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम आदि भी ऐतिहासिक शिलालेखों एवं 'पृथ्वीराज विजय' से भिन्न और अशुद्ध हैं। पृथ्वीराज की माता अनंगपाल की दुहिता नहीं थीं और न जयचन्द ही अनंगपाल का दौहित्र तथा राठौरवंशीय था। शिलालेखों में जयचन्द सर्वत्र गहरवार क्षत्रिय बताया गया है। ओझा जी

पृथ्वीराज और जयचन्द की शत्रुता एवं संयोगिता-स्वयंवर को भी कल्पना मानते हैं। इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज की माता का नाम न तो कर्पूरदेवी ही था और न उस समय अनंगपाल दिल्ली का राजा ही था। पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राणा समरसिंह के साथ भी नहीं हुआ था, क्योंकि शिलालेखों से ये प्रमाण मिल चुके हैं कि समरसिंह पृथ्वीराज के उपरांत १०९ वर्ष तक जीवित रहे। गुजरात के राजा भीम के द्वारा पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का वध और तदुपरान्त पृथ्वीराज द्वारा भीमराव को मारकर बदला लेना असंगतियुक्त है। इसका पुष्ट प्रमाण राजा भीम का दानपत्र है जिसके अनुसार वह पृथ्वीराज की मृत्यु के उपरान्त २० वर्ष तक जीवित रहा था। इसी प्रकार पृथ्वीराज के विवाह आदि का वर्णन भी इतिहास-विरुद्ध ठहरता है। इसी प्रकार शाहबुद्दीन द्वारा मेवाड़ के राणा समरसिंह का वध और पृथ्वीराज द्वारा भीमराव का वध भी अनैतिहासिक है।

दूसरा प्रमुख कारण है कि रासो में दी गयी तिथियाँ लगभग सभी अशुद्ध हैं। कर्नल टाड के अनुसार रासो में दिये गये संवतों और ऐतिहासिक साधनों द्वारा प्राप्त संवतों में लगभग १०० वर्ष का अन्तर है। रासो में पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् ११५८ है जबकि इतिहास संवत् १२४८ का साक्षी है। जन्म संवत् रासो में १११५ है जबकि इतिहास से वह १२२० ठहरता है। इसी प्रकार आबू पर भीम चालुक्य के आक्रमण शाहबुद्दीन के साथ पराड़ौर युद्ध आदि की तिथियाँ भी अशुद्ध हैं। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज के जीवन की अनेक घटनाएँ, पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना, मेवाती मुगल युद्ध, संयोगिता स्वयंवर आदि घटनाओं का सं० १४६० के पास रचित 'हम्मीर महाकाव्य' में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। रासो के अनुसार शाहबुद्दीन गोरी सं० ११४९ में पृथ्वीराज द्वारा मारा गया था, परन्तु इतिहास के अनुसार सं० १२६३ में गक्खरों द्वारा उसका वध किया था। अतः इस अनैतिहासिकता के कारण रासो को जाली ग्रन्थ ठहराया गया है, क्योंकि यदि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन होता तो इतनी भयंकर भूल असम्भव-सी थी।

घटना-वैषम्य तथा काल-वैषम्य के अतिरिक्त अभी तक यह भी पूर्णरूपेण निश्चित नहीं हुआ है कि रासो का निर्माण-काल क्या है। इस सम्बन्ध में

ओझाजी का मत है कि सं० १४६० में रचित हम्मीर काव्य की प्रथम प्रशस्ति में रासो को आधार नहीं बनाया गया, अतः स्पष्ट है कि रासो का रचनाकाल इसके बाद का है। मुगल-मेवाती युद्ध के वर्णन से भी वह १४५५ और १५८७ के बीच का ही ठहरता है। ओझाजी के अनुसार रासो की सबसे प्राचीन प्रति १६४२ की है। अतः रासो का निर्माण-काल १६०० के लगभग है। इस प्रकार ओझाजी रासो के निर्माण-काल को १२वीं शताब्दी न मानकर १६वीं शताब्दी का मानते हैं। बाबू रामनारायण दूगड़ को प्राप्त एक पुस्तक के अन्तिम छन्द से ज्ञात होता है कि चन्द के छन्द जगह-जगह बिखरे हुए थे जिसका संकलन महाराणा अमरसिंह ने कराया था। इसकी पुष्टि महाराणा राजसिंह ने नौचौकी बाँध के सं० १६३२ के शिलालेख से भी की जाती है। परन्तु पं० हरप्रसाद शास्त्री को रासो की एक प्रति चन्द के वंशज नानूराम भाट से प्राप्त हुई थी जिसका रचना-काल १४५५ है। मोतीलाल मेनारिया का मत है कि अठारहवीं शताब्दी के पूर्व किसी भी भाषा में रासो ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है। राजसिंह की राजप्रशस्ति का लिखना सं० १७१८ में प्रारम्भ हुआ था, अतः इसी समय के लगभग रासो का निर्माणकाल माना जा सकता है।

रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वान भी रासो में प्रक्षिप्त अंश का होना तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे पूर्णरूपेण जाली नहीं समझते। वे इस बात को मानते हैं कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन कवि था। ओझाजी चन्द का होना तो मान लेते हैं, परन्तु उसे पृथ्वीराज का समकालीन नहीं मानते। मिश्रबन्धुओं का मत है कि नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित यह और परवानों के इन भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है, परन्तु ओझाजी इन्हें भी जाली मानते हैं। पांड्या जी ने 'विक्रम साक आनन्द, के आधार पर आनन्द संवत् की कल्पना करके बताया है कि रासो की सभी घटनाओं में ९० वर्ष जोड़ देने से संवत् ठीक हो जाते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसा करने पर भी तिथियाँ इतिहास से मेल नहीं खातीं। श्यामसुन्दर दास का कथन है कि चन्द पृथ्वीराज का दरबारी कवि था। उसके लिखे हुए रासो की भाषा और वर्णित विषयों में काफी परिवर्तन हो गया है, परन्तु

उनकी राय में कोई पुष्ट आधार नहीं है। पहले आचार्य शुक्ल श्यामसुन्दरदास के समर्थक थे, परन्तु बाद में उन्होंने लिखा कि :—

"इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त कहने को जगह नहीं कि यह ग्रन्थ पूरा जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर चन्द के कुछ पद्य भी बिखरे हों, लेकिन उनका पता लगाना असम्भव है। यदि यह किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े अंश ही पीछे के मिले होते तो कुछ घटनाएँ और कुछ संवत् तो ठीक होते।"

घटना-वैषम्य, काल-वैषम्य, रचनाकाल के अतिरिक्त दो महत्त्वपूर्ण कारण और हैं जिनसे यह पूर्ण अप्रामाणिक होने की ओर अग्रसर होने लगता है। प्रथम कारण रासो में अरबी-फारसी के बहुत अधिक शब्दों का प्रयोग है जो चन्द के समय में किसी प्रकार भी व्यवहार में नहीं लाये जा सकते थे। इस प्रकार रासो की भाषा चन्द के समय की न होकर १६वीं शताब्दी की ठहरती है। परन्तु रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानों का कथन है कि उस समय मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। अतः लाहौर का निवासी होने के कारण चन्द की भाषा में उन शब्दों का प्रयोग उचित और तर्क-संगत है। दूसरा कारण अनुस्वरान्त शब्दों की भरमार है। प्राकृत और अपभ्रंश की शब्द रूपावली का कोई विचार नहीं है और नये पुराने ढंग की विभक्तियाँ बुरी तरह मिली हुई हैं। भाषा में कहीं १६वीं शताब्दी के और कहीं प्राचीन भाषा के शब्दों के दर्शन होते हैं। समर्थक विद्वान इसे प्रक्षिप्तांश का कारण मानते हैं।

अब तक रासो के ४ रूपान्तर प्राप्त हुए हैं। प्रथम में लगभग १ लाख छंद, द्वितीय में दस हजार, तृतीय में चार हजार और चतुर्थ में दो हजार छंद हैं। सर्वप्रथम मुनि जिनविनय ने इस बात पर जोर दिया कि रासो का मूल-रूप अल्पकाय था और उसकी भाषा अपभ्रंश थी; क्योंकि 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में रासो के ४ छंद ऐसे मिले हैं जो रासो की लघुतम प्रति में वर्त्तमान हैं। जिस प्रति के ये छन्द उद्धृत किये गये हैं, वह १५वीं शताब्दी की है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि, इन पद्यों के प्रकाशन के बाद से अब इस विषय में

किसी को संदेह नहीं रह गया है कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार में अवश्य था और उसने ग्रन्थ भी लिखा था। सौभाग्यवश वर्त्तमान रासो में भी ये छन्द कुछ विकृत रूप में ही प्राप्त होते हैं। इसपर से यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्त्तमान रासो में छन्द के मूल छन्द अवश्य मिले हुए हैं।

डा० दशरथ शर्मा ने रासो के ऊपर वहुत परिश्रम किया है। अपने लम्वे व कठोर परिश्रम के उपरान्त वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि रासो का मूल रूप अल्पकाय था। अतः वह प्रामाणिक है। उन्होंने रासो के अप्रामाणिक वताने वाले विद्वानों के मतों का खंडन करते हुए उसे प्रामाणिक कहा है। उनके तर्क निम्नलिखित हैं :—

प्रथम, मूल रासो न तो जाली ग्रन्थ है और उसकी रचना सं० १६०० के आसपास हुई है। इधर रासो की लघुतम प्रतियों के आधार पर घटना-वैषम्य, काल-वैषम्य एवं भाषा-सम्बन्धी शंकाओं का समाधान हो जाता है इन विषयों में इतिहास-सम्मत त्रुटिपूर्ण घटनाओं का उल्लेख कहीं भी नहीं है।

दूसरे, राजपूत कुलों की आबू के कुण्ड के उत्पत्ति का उल्लेख भी इस प्रति में नहीं है। उसमें केवल इतना लिखा है कि ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिकराय उत्पन्न हुआ। सुरजनचरित, हम्मीरकाव्य और पुष्कर तीर्थ में भी यह कथा इसी प्रकार है।

तीसरे, ओझाजी के अनुसार रासो की अशुद्ध वंशावली का भी यह विस्तार वीकानेर की लघुतम प्रति में नहीं है। 'पृथ्वीराज विजय' और रासो की उस प्रति में कुछ ही अन्तर है।

चौथे, अनंगपाल और पृथ्वीराज के सम्बन्ध की अशुद्धि इस प्रति में भी है। शर्माजी इसका समाधान नहीं कर सके हैं।

पाँचवें, संयोगिता-स्वयंवर का वर्णन सभी प्रतियों में विस्तारपूर्वक है। लघुतम प्रति में केवल इंच्छिनी के विवाह का ही वर्णन है।

छठे, पृथादेवी का विवाह, शाहवुद्दीन-समरसिंह-युद्ध, भीम और सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज और भीम के युद्ध का इस प्रति में उल्लेख नहीं है। इसमें पद्मावती और पृथ्वीराज के विवाह की कथा भी नहीं है।

और अन्त में, लघुतम प्रति में कैमास-वध का वर्णन है। पृथ्वीराजविजय के अनुसार वह पृथ्वीराज का प्रधान था, यह मूल रासो की कथा है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अपने मूल रूप में रासो की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण है परन्तु लघुतम प्रति भी दो घटनाओं का समाधान न कर सकी। शर्माजी के पास पृथ्वीराज का अनंगपाल तोमर का नाती होने का और इंच्छिनी के विवाह का प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त संयोगिता-स्वयंवर और चौहानों की उत्पत्ति भी सन्देहास्पद है। रासो-विषयक इतनी लम्बी खोजों और विवादों के उपरान्त भी हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह निश्चय करना दुष्कर है कि रासो जाली है अथवा असली। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "इस निरर्थक मन्थन से जो दुस्तर फेनराशि तैयार हुई है, उसे पार करके ग्रन्थ के साहित्यिक रस तक पहुँचना हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी के लिए असम्भव-सा व्यापार हो गया है।"

३ | पृथ्वीराज रासो का महाकाव्यत्व

समय के अनुसार साहित्यिक कृतियों की कसौटियाँ भी बदलती रहती हैं। संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में महाकाव्य की जो परिभाषा थी वह समय की रेखाओं में शिथिल पड़ती गई है इसलिए वर्त्तमान समय में आलोचना के नये मानदण्डों को प्रमुखता मिली है। हम यहाँ प्राचीन और नवीन दोनों ही दृष्टियों से पृथ्वीराज रासो को महाकाव्यत्व की कसौटी पर परखेंगे।

पृथ्वीराज रासो हिन्दी-साहित्य का प्रथम महाकाव्य है और इसका रचयिता प्रथम महाकवि। रासो की विषय-वस्तु ६९ समयों में समाप्त हुई है, अतः इसका स्वरूप विशालतम महाकाव्य के रूप में हमें देखने को मिलता है। प्रथमतः, इस विस्तृत आकार वाले महाकाव्य को भारतीय आचार्यों द्वारा निर्धारित महाकाव्य की कसौटियों पर परखा जायेगा। सर्वप्रथम यह देखना अनिवार्य है कि आचार्यों ने महाकाव्य के कौन-कौन से लक्षण दिये हैं। उनकी कसौटी पर पृथ्वीराज रासो खरा उतरता है या नहीं। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने काव्यानुशासनम् में महाकाव्य की निम्न परिभाषा प्रस्तुत की है :—

"पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिवद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वास-संध्यवस्कंधकबंधं सत्सन्धिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।" अर्थात् उसमें संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश एवं ग्राम्य भाषा में निबद्ध सर्ग अथवा आश्वास, संधि, अवस्कंध होने के साथ-साथ मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहणादि संधियाँ भी हों। इस प्रकार वैचित्र्य से युक्त प्रवन्ध काव्य महाकाव्य कहलाता है। नाटक में भी लगभग यही विशेताएँ पायी जाती हैं। आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ में महाकाव्य के निम्न लक्षण प्रस्तुत किये हैं—

> "सर्गबंधो महाकव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
> सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ॥१॥
> एक वंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
> शृंगार बीर शान्तानामकोऽङ्गीरस इष्यते ॥२॥
> अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वनाटकसन्धयः।

इतिहासोद्भवं वृत्तं अन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ॥३॥

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ॥४॥

क्वचिन्निंदा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम् ।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ॥५॥

नातिस्वल्पा नीतिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ॥६॥

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।
सन्ध्या-सूर्येन्दु-रजनी-प्रदोषध्वान्तवासराः ॥७॥

प्रातर्मध्याह्न-मृगया-शैलर्तु वनसागराः ।
संभोगविप्रलंभौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥८॥

रणप्रयाणोपयम-मन्त्र-पुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोग्यं सांगोपांगा अमी इह ॥९॥

कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
मामास्य सर्गोपादेयकथया सर्ग नाम तु ॥१०॥

अर्थात्

(१) महाकाव्य सर्गबद्ध होता है।

(२) नायक देवता या धीरोदात्त गुणवाला उच्चकुलोद्भव क्षत्रिय हो अथवा एक वंश के कई कुलीन राजा भी नायक हो सकते हैं ।

(३) शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस प्रधान होता है और कई रस गौण हो सकते हैं।

(४) महाकाव्य में नाटक की सभी सन्धियाँ रहती हैं ।

(५) कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा लोकविश्रुत किसी भी महापुरुष की हो सकती है ।

(६) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि का वर्णन पुरुषार्थ चतुष्ट्य के रूप में हुआ करता है ।

(७) महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण होता है, वह आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक में से किसी एक रूप को लिये हुए रहता है।

(८) महाकाव्य में दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा रहती है।

(९) सामान्य रूप से न अधिक बड़े और न अधिक छोटे न्यूनाधिक आठ सर्ग उसमें होने ही चाहिए।

(१०) एक सर्ग के वर्णन में प्रायः एक ही छन्द रहता है, परन्तु सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्त्तन होना ही चाहिए।

(११) महाकाव्य के सर्ग के अन्त में भावी कथा की सूचना मिलनी ही चाहिए।

(१२) एक महाकाव्य में सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, अन्धकार, दिन, प्रभात, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, संभोग, विप्रलम्भ, मुनि, स्वर्ग, नगर, रण प्रयाण, विवाह मंत्र, पुत्र, विजय आदि का वर्णन मिलता है।

(१३) महाकाव्य के नामकरण में कवि का नाम, नायक का नाम अथवा किसी अतिरिक्त नाम की प्रधानता रहती है।

(१४) सर्ग का नाम सर्ग की वर्णनीय कथा के आधार पर भी रखा जा सकता है।

उपर्युक्त कसौटी के आधार पर पृथ्वीराज रासो में महाकाव्य की सम्पूर्ण विशेषताएँ उपलब्ध हो जाती हैं। संक्षेप में वे विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) रासो ६९ समयों (अध्यायों) का एक विशालकाय काव्यग्रन्थ है।

(२) कुलीन वंशोद्भव सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज चौहान इसके नायक हैं।

(३) इसकी विषयवस्तु 'युद्ध और प्रेम' को अपने में समेटे हुए है। उसमें भी युद्ध-वर्णन की प्रधानता है, अतः वीर रस प्रमुख होकर आया है, अन्य रस गौण ही हैं।

(४) नाटक की भाँति रासो में भी नानाविधि सन्धियों का समावेश हुआ है।

(५) महाराज पृथ्वीराज की ऐतिहासिकता असन्दिग्ध है ही, रस के अन्य अनेक पात्र भी ऐतिहासिक ही हैं, फिर कथा की ऐतिहासिकता में कैसे सन्देह किया जा सकता है। हाँ, इसमें स्थान-स्थान पर कवि की स्वाभाविक कल्पना भी अपना चमत्कार दिखाती है।

(६) एक छप्पय से अर्थ-प्राप्ति एवं काम (इच्छापूर्ति) से पुरुषार्थचतुष्ट्य की भी पुष्टि होती है—

"पावहि सुवरथ अरु ध्रम्म काम।
निरमान मोष पावहि सुधाम ॥,, सम० ६७

(७) रासोकार ने महाकाव्य के प्रारम्भ में ऊंकार, गुरुदेव, विष्णु आदि की स्तुति विभिन्न छन्दों में की है।

(८) महाकाव्य में सज्जनों की स्तुति और खलों की निन्दा का तो आधिक्य है ही।

(९) सर्गों में छन्द प्रयोग की विभिन्नता है ही। सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्त्तन देखने को मिलता है।

(१०) भावी कथा की सूचना सर्ग के अन्त में आवश्यक रूप से कवि ने नहीं दी।

(११) सन्ध्या, प्रभात, सूर्य तथा शृंगार रस के वर्णन के समय चन्द्र, रात्रि, प्रदोष आदि का वर्णन मिलता है।

(१२) महाकाव्य का नामकरण नायक पृथ्वीराज के नाम पर ही है।

(१३) 'पृथ्वीराज रासो' के सर्गों के नाम वर्णित कथा के आधार पर ही रखे गये हैं।

इस प्रकार महाकाव्य के लक्षणों की कसौटी पर यह महाकाव्य पूर्ण खरा उतरता है। कवि-रूढ़ियों का इसमें पूर्ण प्रयोग हुआ है। सर्ग-बन्धन में कहीं कहीं शिथिलता देखने को मिलती है। विस्तृत कथावस्तु किसी प्रकार भी इस परिपुष्टि में व्याघात नहीं डालती।

प्राचीन लक्षणों के आधार पर आधुनिक विद्वानों ने महाकाव्य की परिभाषा लगभग इस प्रकार दी है—"महाकाव्य एक वृहदाकार समाख्यान काव्य है।

जिसमें उच्चतर चरित्रों का वर्णन रहता है और जिसके वर्णन-प्रवाह में घनत्व और गरिमा दृष्टिगोचर होती है।" इस परिभाषा के आधार पर महाकाव्य के आवश्यक अंग चार हैं—१. कथावस्तु, २. चरित्र-चित्रण, ३. काव्य-शैली, ४, उद्देश्य। संस्कृत लक्षणों की कसौटी में इन चारों विश्लेषण-तत्त्वों का अन्तर्भाव हो गया है। अतः उन्हीं की फिर से विवेचना करना पुनरावृत्ति मात्र होगी। अब हम कुछ विशिष्ट शीर्षकों के आधार पर 'रासो' का विश्लेषण करेंगे, इन्हीं कसौटियों की ओर आधुनिक आलोचक उन्मुख दिखायी देता है।

महाकाव्य की दृष्टि से रासो में—

महदुद्देश्य, महत् प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा

पृथ्वीराज रासो सामन्ती वीर-युग की प्रमुख रचना है। इस युग की प्रेरणाशक्ति वीरता और उत्साह के रूप में कार्य करती हुई दिखायी देती है। प्रेरणाशक्ति वीरता की प्रवृत्ति के रूप में अवश्य देखने को मिलती है—परन्तु इस रचना का उद्देश्य वीर रस की सिद्धि मात्र ही नहीं है। जातीय जीवन में जीवनी शक्ति का संचार करने के रूप में भी इसका महान् उद्देश्य निहित प्रतीत होता है। कवि ने जातीय जीवन में स्वातन्त्र्य और बलिदान का मन्त्र फूँका है। उसी उत्साह पर आधारित होकर जीवन के आदर्शपूर्ण मूल्यों की स्थापना की है। यद्यपि 'रासो' में नायक की अन्तिम विजय हमें देखने को नहीं मिलती। इसके ६८वें समय में ही समस्त उत्तरी भारत पर विदेशी आक्रमणकारियों का अधिकार हो जाता है, परन्तु इससे महाकाव्य पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं आता और न उससे निराश जीवन की प्रतिष्ठा होती है। एक प्रकार से चौहान और गोरी तो युद्ध के निमित्त मात्र हैं, उसमें तो भारतीय स्वातन्त्र्य का स्वर ही मुखरित होता दिखायी देता है। स्वातन्त्र्य के लिए अपने जीवन को बलिदान कर देना ही इसका महत् उद्देश्य है। इस प्रकार 'रासो' में एक युगव्यापी विराट चेतना और स्वातन्त्र्य की भावना ही देखने को मिलती है। आज के युग में रासो केवल पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्दवरदायी के रूप में ही आदरणीय नहीं है, वरन् एक युग-प्रक्रिया एवं स्वतन्त्रता की भावना का द्योतन भी करता है। अतः उनमें केवल ऐतिहासिक

तत्त्वों की खोज मात्र ही नहीं की जा सकती; क्योंकि वह इतिहास-ग्रन्थ नहीं है, वह तो काव्य-ग्रन्थ है।

गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व

रासो विकास-शील महाकाव्य की कोटि में आता है। विकसनशील महाकाव्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) लोककण्ठ को वाहन वनाता हुआ कोई गाथाचक्र जव एक वृहत् आख्यान का रूप धारण कर लेता है, तव कोई विशिष्ट कवि उसकी व्यवस्था करके अपने से किसी पूर्ववर्ती कवि द्वारा रचित होने की प्रसिद्धि कर देता है।

(२) जव कोई कवि किसी ऐतिहासिक नायक लघु अथवा वृहत् जीवनवृत्त को लेकर क्रमवद्ध रूप में घटनाओं को निवद्ध करता है, कालान्तर में उस नायक का व्यक्तित्व इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि वह सर्वत्र छा जाता है। आगे चलकर वह वृत्त कवि की सामूहिक सम्पत्ति वन जाता है। क्षेपक रूप में उस काव्य में वहुत वृद्धि होती रहती है। अन्त में चलकर उसका असली रूप भी छिप जाता है। पृथ्वीराज रासो इसी कोटि में आता है।

(३) तीसरे प्रकार के महाकाव्य वे होते हैं, जो पाठ्य से बढ़कर गेय हुआ करते हैं। इनका मूल कवि कोई-न-कोई अवश्य रहता है, परन्तु उसके वर्त्तमान रूप में मूल कवि की रचना घुलमिल कर पड़ी रहती है, उन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता। परन्तु ऐसे महाकाव्य लोककण्ठ में बहुत शीघ्र अपना आसन जमा लेते हैं। फिर तो जनकण्ठ ही उनकी प्रामाणिकता एवं अधिकार का भागी होता है, कवियों का उन पर कोई अधिकार नहीं रहता। इनको लोक-महाकाव्य की संज्ञा भी दी जा सकती है। आल्ह खण्ड इसी प्रकार का महाकाव्य है।

इस प्रकार द्वितीय कोटि का विकसनशील महाकाव्य होने के कारण रासो में रघुवंश, शिशुपालवध-जैसे महाकाव्यों की सी शास्त्रीय गरिमा न भी हो, अर्थ-गौरव की वह गुरुता न भी हो और विचारों की वह गम्भीरता भले ही देखने को न मिले फिर भी वह प्राचीन भारतीय ज्ञान की एक निधि है, उसमें अनेकानेक विषयों की हमें योजना मिलती हैं, इसलिए उसमें गुरुत्व और गाम्भीर्य की कमी हमें प्रतीत नहीं होती। उसके अन्तराल में स्थान-स्थान पर

राजनीति, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, योगदर्शन, अध्यात्म विद्या आदि में के वर्णन मिलते हैं। यह माना कि कई स्थलों पर अलंकृत और रीति-बद्ध शैली का प्रयोग होने के कारण वर्णनों में कुछ दुरूहता अवश्य आ गई है। उसमें सर्वत्र कथानक की चुस्ती और आदर्श चरित्रों की योजना का अभाव भी दिखायी देता है, फिर भी वीर भावना, अपरिमित उत्साह की योजना और अदम्य साहस की कहानी से विषयवस्तु का महत्त्व स्वयं मुखरित होने लगता है। रासो में क्रियाशील, संघर्षशील पुरुष को महत्त्व प्रदान किया गया है जिससे विषयवस्तु का महत्त्व स्वयं प्रतिपाद्य है।

युग-जीवन का समग्र चित्रण एवं कथानक

रासोकार ने युग-जीवन का चित्रण करके एक महत् कार्य की सिद्धि तो की ही है। यह युग-जीवन का चित्रण हमें वस्तु-व्यापार के वर्णन, युद्ध-वर्णन, मृगया, विवाह और विलास के वर्णन, तन्त्रमन्त्र की सिद्धि की योजना, नाम-परिगणन की शैली में भली प्रकार देखने को मिलता है। रासो की घटनाओं की शृंखलायें यद्यपि सुदृढ़ और एकरस नहीं हैं, फिर भी उनमें अपना आकर्षण नहीं है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"इस क्रमबद्ध जंजीर को तैयार करने में लम्बी-छोटी, सुडौल-बेडौल, अनेक हाथों से गढ़ी हुई पृथक्-पृथक् कड़ियों का उपयोग किया गया है, जो एक-दूसरे के साथ बाद को जोड़ दी गई हैं। ऐसा होने पर भी यह जंजीर, असाधारण ही है।" रासो के कथानक की तुलना किसी सुव्यवस्थित नदी की वेगवान धारा से नहीं की जा सकती। उसकी तुलना तो महानद की मन्द धारा से हो सकती है जो बिना किसी तात्कालिक उत्तेजना के अग्रसर होती रहती है। कथानक के इसी विस्तार को रासो ने सागर कहकर अभिव्यक्त किया है —

"काक समुद्र कवि चन्द्र कृत मुकतसमप्पन ज्ञान।
राजनीति बोहिथ सुफल पार उतारन यान॥"

महत् चरित्र

महत् चरित्र में जो-जो गुण आवश्यक हैं, रासो के नायक में वे गुण संकेत-रूप से विद्यमान हैं। कवि ने तेजस्वी नायक के गुणों की परख उसके जन्म के समय ही कर ली थी। देखिये—

तत्त्वों की खोज मात्र ही नहीं की जा सकती; क्योंकि वह इतिहास-ग्रन्थ नहीं है, वह तो काव्य-ग्रन्थ है।

गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व

रासो विकास-शील महाकाव्य की कोटि में आता है। विकसनशील महाकाव्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) लोककण्ठ को वाहन वनाता हुआ कोई गाथाचक्र जब एक बृहत् आख्यान का रूप धारण कर लेता है, तव कोई विशिष्ट कवि उसकी व्यवस्था करके अपने से किसी पूर्ववर्ती कवि द्वारा रचित होने की प्रसिद्धि कर देता है।

(२) जब कोई कवि किसी ऐतिहासिक नायक लघु अथवा वृहत् जीवनवृत्त को लेकर क्रमबद्ध रूप में घटनाओं को निवद्ध करता है, कालान्तर में उस नायक का व्यक्तित्व इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि वह सर्वत्र छा जाता है। आगे चलकर वह वृत्त कवि की सामूहिक सम्पत्ति वन जाता है। क्षेपक रूप में उस काव्य में बहुत वृद्धि होती रहती है। अन्त में चलकर उसका असली रूप भी छिप जाता है। पृथ्वीराज रासो इसी कोटि में आता है।

(३) तीसरे प्रकार के महाकाव्य वे होते हैं, जो पाठ्य से बढ़कर गेय हुआ करते हैं। इनका मूल कवि कोई-न-कोई अवश्य रहता है, परन्तु उसके वर्त्तमान रूप में मूल कवि की रचना घुलमिल कर पड़ी रहती है, उन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता। परन्तु ऐसे महाकाव्य लोककण्ठ में बहुत शीघ्र अपना आसन जमा लेते हैं। फिर तो जनकण्ठ ही उनकी प्रामाणिकता एवं अधिकार का भागी होता है, कवियों का उन पर कोई अधिकार नहीं रहता। इनको लोक-महाकाव्य की संज्ञा भी दी जा सकती है। आल्ह खण्ड इसी प्रकार का महाकाव्य है।

इस प्रकार द्वितीय कोटि का विकसनशील महाकाव्य होने के कारण रासो में रघुवंश, शिशुपालवध-जैसे महाकाव्यों की सी शास्त्रीय गरिमा न भी हो, अर्थ-गौरव की वह गुरुता न भी हो और विचारों की वह गम्भीरता भले ही देखने को न मिले फिर भी वह प्राचीन भारतीय ज्ञान की एक निधि है, उसमें अनेकानेक विषयों की हमें योजना मिलती है, इसलिए उसमें गुरुत्व और गाम्भीर्य की कमी हमें प्रतीत नहीं होती। उसके अन्तराल में स्थान-स्थान पर

राजनीति, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, योगदर्शन, अध्यात्म विद्या आदि में के वर्णन मिलते हैं। यह माना कि कई स्थलों पर अलंकृत और रीति-बद्ध शैली का प्रयोग होने के कारण वर्णनों में कुछ दुरूहता अवश्य आ गई है। उसमें सर्वत्र कथानक की चुस्ती और आदर्श चरित्रों की योजना का अभाव भी दिखायी देता है, फिर भी वीर भावना, अपरिमित उत्साह की योजना और अदम्य साहस की कहानी से विषयवस्तु का महत्त्व स्वयं मुखरित होने लगता है। रासो में क्रियाशील, संघर्षशील पुरुष को महत्त्व प्रदान किया गया है जिससे विषयवस्तु का महत्त्व स्वयं प्रतिपाद्य है।

युग-जीवन का समग्र चित्रण एवं कथानक

रासोकार ने युग-जीवन का चित्रण करके एक महत् कार्य की सिद्धि तो की ही है। यह युग-जीवन का चित्रण हमें वस्तु-व्यापार के वर्णन, युद्ध-वर्णन, मृगया, विवाह और विलास के वर्णन, तन्त्रमन्त्र की सिद्धि की योजना, नाम-परिगणन की शैली में भली प्रकार देखने को मिलता है। रासो की घटनाओं की शृंखलायें यद्यपि सुदृढ़ और एकरस नहीं हैं, फिर भी उनमें अपना आकर्षण नहीं है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"इस क्रमबद्ध जंजीर को तैयार करने में लम्बी-छोटी, सुडौल-बेडौल, अनेक हाथों से गढ़ी हुई पृथक्-पृथक् कड़ियों का उपयोग किया गया है, जो एक-दूसरे के साथ बाद को जोड़ दी गई हैं। ऐसा होने पर भी यह जंजीर, असाधारण ही है।" रासो के कथानक की तुलना किसी सुव्यवस्थित नदी की वेगवान धारा से नहीं की जा सकती। उसकी तुलना तो महानद की मन्द धारा से हो सकती है जो बिना किसी तात्कालिक उत्तेजना के अग्रसर होती रहती है। कथानक के इसी विस्तार को रासो ने सागर कहकर अभिव्यक्त किया है —

"काक समुद्र कवि चन्द्र कृत मुकतसमप्पन ज्ञान।
राजनीति बोहिथ सुफल पार उतारन यान॥"

महत् चरित्र

महत् चरित्र में जो-जो गुण आवश्यक हैं, रासो के नायक में वे गुण संकेत-रूप से विद्यमान हैं। कवि ने तेजस्वी नायक के गुणों की परख उसके जन्म के समय ही कर ली थी। देखिये—

"ज दिन जनम प्रिथिराज। षरिग ब-तह कनवज्जह॥
ज दिन जनम प्रिथिराज। त दिन गज्जन पुर मज्जह॥
....
ज दिन जनम प्रिथिराज भौ। त दिन भारधर उत्तरीय।
बतरीय अंस असन्न ब्रह्म। रही जुगें जुग बत्तरीय॥

गरिमामयी उदात्त शैली

शैली को यदि काव्य की आत्मा न भी माना जाय तो वह उसकी प्राण अवश्य है। शैली से काव्य की वाह्यता से अधिक उसकी आन्तरिकता की उद्भावना होती है। रासो का सौन्दर्य उपवन के कटे-छटे सौन्दर्य के समान नहीं है वह तो विस्तृत जंगल के प्रकृत सौन्दर्य को अपने में लिये हुए है। उसकी शैली सादी, सरल और अनलंकृत है। रासो की शैली के विषय में कहा गया है, "उसमें स्फीत और विस्तार है, जिस प्रकार वीर पुरुष की दर्प-स्फीत शिराओं में उष्ण रक्त की तीव्र गति होती है रासो की शैली में भी वैसी ही उष्णता और तीव्रता है जो पाठक को सहज ही अभिभूत कर लेती है।" उसमें किसी प्रकार का सन्तुलन तो देखने को नहीं मिलता फिर भी उसमें अपना पौरुष-युक्त सौन्दर्य विद्यमान है। उसमें हिमालय का स्वाभाविक सौन्दर्य दिखायी देता है, ताजमहल जैसा श्रमसाध्य, सुकोमल एवं कटा-छटा सौन्दर्य नहीं है। वीररसात्मक अनुभूति का उल्लेख द्रष्टव्य है—

"पृथीराज़ गुन सुनत होय आनन्द सकल मन।
पृथीराज़ गुन सुनत करय संग्राम स्यार रन॥
पृथीराज गुन सुनत क्रमन कपटयतें खुल्लय।
पृथीराज गुन सुनत हरषि गुंगौ सिर हुल्लय॥
रासो रसाल नवरस सरस आ जानौ जानण लहै।
निसटौ गरिष्ट साहस करै सुनहु सन्ति सरसुति कहै॥"

६८।२४०

रासो में प्रबन्ध रूढ़ियाँ

(१) लिंग-परिवर्त्तन—इसका उल्लेख 'कनवज्ज समय, में अन्ताताई की कहानी में चित्रण हुआ है।

(२) सांकेतिक भाषा का प्रयोग—स्वयं कवि भीमराज चालुक्य से भी सांकेतिक भाषा में बातचीत करता है। इनके अतिरिक्त—

(३) पूर्वजन्म की स्मृति।

(४) लक्ष्मी-प्राप्ति का शकुन।

(५) फलादि द्वारा सन्तानोत्पति।

(६) भविष्य-सूचक स्वप्न।

(७) ऋषि-मुनि का शाप।

(८) प्रेम-क्षेत्र में यक्षिणी की सहायता।

(९) मन्त्र-तन्त्र की लड़ाई।

इसी प्रकार कथानक की कुछ रूढ़ियाँ कवि-कल्पना पर आधारित हैं। जैसे—(१) शुक-सम्बन्धी रूढ़ि। महाकाव्य में शुक श्रोता-वक्ता के साथ-साथ कथा को गति देने में एक पात्र का कार्य करता है और आवश्यकतानुसार रहस्य खोलने का कार्य भी कवि उसी से लेता है। (२) कवि कल्पना से प्रेमि-प्रेमिका के जीवन में गुण, रूप और श्रवणजन्य आकर्षण का भी प्रयोग करता है। (३) नायिका को अप्सरा के रूप में माना जाना भी कवि समाज की रूढ़ि ही है। (४) मन्दिर को गई कन्या का अपहरण एवं (५) बारहमासा के माध्यम से विरह-वेदना की अभिव्यक्ति रासो में खूब हुई है। (६) वन में मार्ग भूलने पर मुनि, देवता या राक्षस से भेंट होने की रूढ़ि का भी वर्णन है। (७) कवन्ध-युद्ध का वर्णन कई बार हुआ है। इस प्रकार पृथ्वीराज रासो प्राचीन महाकाव्य के लक्षणों की कसौटी पर तथा आधुनिक आलोचना की परख की दृष्टि से शुद्ध एवं खरा दिखाई देता है। उसका अपना अमोघ प्रभाव भारतीय जनता पर है।।

४ | रासो का कला-पक्ष

कला-पक्ष की दृष्टि से तीन बातों की विवेचना आवश्यक है : भाषा, छन्द और अलंकार। हम क्रमशः इनका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

रासो की भाषा

रासो की भाषा के सम्बन्ध में चार मान्यतायें पढ़ने में आयी हैं: (अ) इस महाकाव्य की भाषा अपभ्रंश है (आ) यह राजस्थानी (डिंगल) की रचना है। (इ) रासो की भाषा व्रज (पिंगल) है। (ई) इस महाकाव्य में नाना भाषा का समावेश हुआ है। भाषा की दृष्टि से रासो की भाषा के सम्बन्ध में आलोचकों की नाक भौं ही सिकुड़ती रही है। आचार्य शुक्ल-जैसे आलोचक इसकी भाषा को देखकर झुंझलाकर लिख देते हैं : "भाषा की दृष्टि से यदि ग्रन्थ को कसते हैं तो हमें और भी निराश होना पड़ता है; क्योंकि वह बिलकुल बेठिकाने है, उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। दोहों की व कुछ कवित्तों की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छन्दों में कहीं-कहीं तो अनुस्वरांत शब्दों की ऐसी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत-प्राकृत शब्दों की नकल की हो।" डा० विमलकुमार जैन इसी प्रकार अपना मत दिया है : "रासो की भाषा में सुचारुता नहीं है। कहीं-कहीं तो शृंगार के वर्णन में वीररस के अभिव्यंजक वर्णों का व्यवहार हुआ है। कहीं-कहीं एक ही छन्द में अनेक भाषाओं के शब्द प्रयुक्त हुए मिलते हैं।" इतना मतभेद होते हुए भी यह बात तो सर्वमान्य है कि रासो की भाषा भावानुगामिनी है। वीरभावों की अभिव्यक्ति करते समय इसमें ओजपूर्ण शब्दों का प्रयोग है। कोमल भावों के चित्रण के समय माधुर्य-युक्त और प्रसादपूर्ण वर्णों की प्रधानता है। रूपमाधुर्य का चित्रण करते समय निम्न उदाहरण में एक भी कर्णकटु शब्द का प्रयोग नहीं है। देखिये कहीं भी संयुक्ताक्षरों, द्वित्वों एवं ट वर्ण की आवृत्ति नहीं हुई है—

"वैस्या वैंछित भूप रूप मनसा शृंगार हारा वली।
सोयं सूरति लच्छि अच्छित गुनं वेली सुकमावली ॥
× × ×
रूप नद्दि कटाच्छ फूल टूट्यौ भायं तरंगं वरं।
हावं भावति मीन ग्रसित गुनं सिद्धं मन भंजनी ॥"

वय:सन्धि का वर्णन सुकोमल वर्णों में देखिये—

"जल सैसव युद्ध समान भयं। रवि वाल कहि क्रम ले अययं।
वर यौवन जोवन संधि अती। सु मिलें जनुषित्तइ बालजती ॥
जुरही लगि सैसव जुव्वन्नता। सुमनो ससि रंजनराज हिता।
जु चल मुरि मारुत झंकुरिता। सुमनो मुरवेस भुरी मुदिता ॥"

जयचन्द के क्रोध के वर्णन के समय ओजपूर्ण सजीव भाषा का प्रयोग देखिये—

"सुनत पंग कवि वचन, श्रुत बदन रक्तवर।
भुवन वंक रद अधर, चंपि उर उससि सासझर ॥
कोप कलंमलि तेज सुन विक्रम अरि क्रमंह।
सगुन विचारि कमंध, दिषि दिसि चंदसु पिम्मह ॥
आदर सुभह गजिन्द किय अंग ऐंडाह विसतारि करि।
नत मिलन मोहि संभरि धनिय, कहौ वत्त मुष विरदवर ॥"

यह तो निश्चित ही है कि रासो विकसनशील महाकाव्य है। विकसनशील, महाकाव्य की अनेकरूपता कई रूपों में देखने को मिलती है। भाषा के सम्वन्ध में 'रासो' में यह उक्ति मिलती है—'षट् भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया।" षट्भाषा के सम्वन्ध में भिखारीदास का यह दोहा प्रसिद्ध है :

"ब्रज मागधी मिलै अमर नाम यमन बखानि।
सहज पारसी हू मिलै षट् विधि करत बखानि ॥"

कुछ विद्वान् रासो की भाषा को डिंगल-प्रधान मानते हैं। और अपने तर्क की पुष्टि 'डकार'-बहुला होने के कारण अथवा डहरू के समान शब्द करने वाली होने के कारण बताते हैं। इसकी रचना राजस्थान में हुई, इसलिये कुछ

विद्वान् इसे डिंगल-प्रधान भाषा का काव्य कहते हैं। डींग अथवा अतिरंजनापूर्ण वर्णनों के कारण भी इसे डिंगल कहा गया हो, यह भी सम्भावना हो सकती है। नरोत्तम स्वामी जैसे विद्वानों का तर्क है कि 'रासो' की भाषा डिंगल बताने वालों का मुख्य आग्रह यह है कि उसकी रचना राजस्थान में हुई, इसलिये पिंगल के विरुद्ध उसकी भाषा को डिंगल कहा गया। परन्तु यह तर्क पुष्ट नहीं है। इसके अनेक ऐसे प्रयोग हैं जिसमें डिंगल की कोई प्रवृत्ति एवं प्रकृति नहीं मिलती। एक मधुर पदावली का उदाहरण देखिये—

"सम वनिता वर बंदि, चंद जंपिय कोमल कल।
सवद ब्रह्म इहि सन्त, अपर पावन कहि निर्मल॥"

कहीं-कहीं संस्कृत के ज्यों के त्यों छन्द एवं संस्कृत शब्दों की बहुलता देखने को मिलती है। शार्दूलविक्रीड़ित छन्द का निम्न उदाहरण ब्रजभाषा के प्रवाह को ही लक्षित करता है—

"मुक्ताहार विहार सार सुवुधा अब्धा वुधा गोपिनी।
सैतं चौर सरीर नीर गहिरा, गौरी गिरा जोगिनी॥
बीना पानि सुवानि जानि दधिजा, हंसा रसा आसिनी।
लंबी जा चिहुरार भार जघना, विध्ना घना नासिनी॥"

यह आधुनिक पिंगल भाषा नहीं है, वरन १२वीं सदी से १६ वीं सदी तक व्यवहार में आने वाली पिंगल भाषा है। शुद्ध संस्कृत के शब्दों और अनुस्वारों का प्रयोग भी देखिये।

"हनिनं निनायकां सेना, कथितं च पूर्वयम्।
अयुद्धं चक्रतं एषां विना स्वामि रणे युथम्॥

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कह सकते हैं कि रासो की भाषा में सौन्दर्य और परिष्कार तो नहीं है और न पंडित विद्वान् की भाँति सुष्ठु पद-योजना, सुनियोजित शब्द-चयन ही है। रासो की भाषा एक प्रकार का मिश्रण है जिसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और लोकभाषाओं (अरबी, फ़ारसी और तुर्की के शब्दों का) प्रयोग है। सैकड़ों वर्षों के प्रचलन से व्याकरण-सम्बन्धी विभिन्न प्रयोगों का भी विचित्र सम्मिलन हुआ है। इसकी भाषा की प्रमुख

विशेषता यही है कि उसमें प्रसंगानुकूल सभी गुण मिलते हैं। संयुक्त वर्णों एवं अनुस्वारों के अधिक प्रयोग के कारण यह महाकाव्य जीवित-जाग्रत देन है।

रासो के छन्द

छन्द काव्य की सजीव गति हुआ करते हैं। छन्द-योजना की सिद्धहस्तता भी कवि की सिद्धि में बहुत अधिक साधक हुआ करती है। रासोकार का भाषा पर तो पूर्ण अधिकार था ही, छन्दों की मर्यादा में भी वे कुशल कवि हैं। रासो में अनेक छन्दों का प्रयोग है। कुछ छन्द तो ऐसे हैं जो अप्रचलित हैं और न छन्दःशास्त्र में उनका उल्लेख ही मिलता है। रासो की वहुविध छन्द-योजना कथा-प्रवाह में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं करती। 'रासो' में गाहा, माथा, आर्या, अरिल्ल, चौपाई, मुरिल्ल, रोला, गीता, भालची, सोरठा, माधुर्य, वेलीद्रुम, दंडमाली, लीलावती, त्रिभंग, कवित्त, छप्पय, तारक, कुण्डलिया, भुजंगी, श्लोक, कंठशोभा, मालिनी, नाराच आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। रासो की छन्द-योजना के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत द्रष्टव्य हैं :

(१) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन—"वैसे तो हर तलवार की टंकार में चन्दवरदाई त्रोटक, तोमर, पद्धरि और नाराच पर उतर आते हैं, पर जमकर वे छप्पय और दूहा ही लिखते हैं···चन्द छप्पयों का तो राजा था।"

(२) डा० नामवर सिंह पृथ्वीराजरासो की भूमिका में लिखते हैं—"वस्तुतः हिन्दी में चन्द को छन्द का राजा कहा जा सकता है। भाव-भंगिमा के साथ-साथ दनादन भाषा नये-नये छन्दों में गति धारण करती चलती है और विशेषता यह है कि बलखाती हुई नदी में वहते हुए चित्त को कोई मोड़ नहीं खटकता। छन्द-परिवर्त्तन के प्रवाह में सहज आत्म-विस्मृति का ऐसा सुख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।"

(३) डा० विपिनविहारी त्रिवेदी का कथन—"विविध आकार-प्रकार वाले रासो के प्रस्तावों की विषम छन्द-योजना और उसका स्वच्छन्द दीर्घ विस्तार सरसता का साधक है, बाधक नहीं। केशव की रामचन्द्रिका और सूदन के 'सुजान चरित' सदृश रासो में भी छन्दों का मेला है, परन्तु उनकी भाँति

इसके छन्द कथाप्रवाह में अवरोध नहीं डालते, वरन अवसर के अनुकूल ओज,माधुर्य और प्रसादगुणों की सफल सृष्टि करते हैं।

अलंकार-योजना

भावों का सौन्दर्य अलंकारों की योजना से द्विगुणित होता है, जबकि अलंकार स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हों, उनमें किसी प्रकार की श्रम-साध्यता देखने में न आती हो। भाषा का प्रभाव भी अलंकारों की योजना से बढ़ ही जाता है। अलंकार-योजना की दृष्टि से कवि चन्द सफल कवि हैं; क्योंकि उन्होंने भावों के उत्कर्ष के लिए ही अलंकार की योजना की है, पाण्डित्य-प्रदर्शन उनका उद्देश्य नहीं रहा है। 'पद्मावती समय' में एक छन्द में स्वाभाविक रूप से उत्प्रेक्षा, ललितोपमा और अतिशयोक्ति का समावेश हो गया है। इसी से छन्द सुन्दर बन पड़ा है—

"मनहुँ कला ससिभान, कला सोलह सौ बन्निय।
बाल बैससिस ता समीप, अम्रित रसपिन्निय॥
बिगसि कमल स्रिग भमर नैन बंजन मृग लुहिय।
हीर कीर अरु बिंब मोति नव सिष अहि घुहिय।
छत्र पतिगमंद हरि हंस गति बिह बनायसंथै सचिय॥
पद्मिनियरूप पद्मावती मनहुँ काम कामिनय रचिय॥"

यमक का उदाहरण—

"वर गौरी पद्मावती, गहि गोरी सुरतान।
निकट नगर दिल्ली गये, चत्रभुजा चहुँआन॥"

निम्न उदाहरण में पृथ्वीराज की युद्ध के लिए की गई शीघ्रता की तुलना कुशल नट से एवं तलवार निकालने की तुलना मन से की गयी है—

"उट्ठिराज प्रिथिराज बाग मनो लगा वीर नट।
कढ़त तेग मनु वेग लगत मनोबीनुझट्टघट॥"

उपमा का एक और सुन्दर उदाहरण है जिसमें पृथ्वीराज द्वारा झपट कर शशिवृता का हाथ पकड़े जाने की घटना की तुलना उस हाथी से की है जिसने मस्ती में स्वर्णलता को झकझोर दिया हो। यहाँ गजराज की मदान्धता राजा

की मनोदशा की सूचक है और रानी शशिवृता का सौन्दर्य एवं कोमलता स्वर्णलता के अनुकूल ही है। देखिये—

"चौहान हथ्य बाला गहिय। सो ओपेनकविचन्द कहिय।
मानों कि लता कंचन लहरि। मत्त बीर गजराज गहिय ॥,,

इस प्रकार अलंकार-योजना में कवि चन्द की एक विशेषता प्रतीत होती है कि जहाँ उसने अर्थालंकारों का प्रयोग किया है, तो उसमें भावोत्कर्ष की प्रधानता दिखाई देती है। और अलंकारों की योजना भाषा के उत्कर्ष पर बल देती है। अनुप्रास का प्रयोग भाषागत, सौन्दर्य की ही अभिवृद्धि करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कला-पक्ष की दृष्टि से कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। महकाव्य की संवाद-योजना भी अपनी विशिष्टता रखती है। प्रामाणिकता के प्रश्न को भुलाकर यदि रासो महाकाव्य पर दृष्टिपात किया जाय, तो निस्सन्देह यह एक सफल कवि की प्रभावपूर्ण काव्यकृति सिद्ध होगी।

५ | शशिवृता-विवाह : कथासार

प्रस्तुत प्रकरण की कथा का आरम्भ शुक-शुकी के संवाद से होता है। शुकी शुक से यह जानना चाहती है कि शशिवृता पूर्व जन्म में कौन थी तथा इस जन्म में उसका विवाह पृथ्वीराज के साथ किस प्रकार हुआ ? शुक उसे विस्तार से पूरी कहानी सुनाता है।

एक गन्धर्व हंस का स्वर्णिम शरीर धारण करके उस उद्यान में पहुँचता है, जहाँ शशिवृता क्रीड़ा कर रही होती है। स्वर्णिम हंस को देखकर शशिवृता उसे पकड़ लेती है और उससे उसका परिचय पूछती है। गन्धर्व अपना परिचय देते हुए उसे बताता है कि वह गन्धर्व है और शशिवृता के हित के लिए ही देवराज इन्द्र ने उसे वहां भेजा है। तदनन्तर शशिवृता हंस से अपने जन्म के विषय में पूछती है और साथ ही साथ वह उससे प्रश्न करती है कि उसे कौन पति मिलेगा। हंस उसके प्रश्नों का उत्तर देते हुए उसे बताता है कि वह पहले चित्ररेखा नाम की सुन्दरी अप्सरा थी। अपने सौन्दर्याभिमान के कारण उसने इन्द्र से कलह कर ली और फलस्वरूप इन्द्र ने उसे मृत्युलोक में पुंज के घर अवतार लेने का शाप दे दिया। गन्धर्व शशिवृता को बताया है कि उसके (शशिवृता के) पिता ने उसका विवाह कमधज वीरचन्द के साथ निश्चित कर दिया है, किन्तु उसे तो पृथ्वीराज जैसा बली ही पतिरूप में मिलना चाहिए। हंस की यह वात सुनकर शशिवृता अनेक प्रकार से हंस से पृथ्वीराज के पास जाने की प्रार्थना करती है और पृथ्वीराज से अपना प्रणय-सन्देश निवेदन करने को कहती है।

इसके पश्चात् हंस वहाँ से उड़कर उस वनस्थली में पहुँचता है जहाँ सुन्दर शरीर वाला पृथ्वीराज विद्यमान है। पृथ्वीराज उस अलौकिक हंस को देखकर पकड़ लेता है। हंस उससे समस्त समाचार निवेदन करके शशिवृता के सौन्दर्य की वहुत अधिक प्रशंसा करता है। हंस उसे यह बताता है कि शशिवृता का शरीर सुमेरु पर्वत के समान सुन्दर है। शैशवावस्था उससे विदा हो गयी है और किशोरावस्था उसके अन्दर प्रवेश कर रही है। हंस उसके यौवनत्व की

तुलना वसन्तागमन से करता है। वह पृथ्वीराज को यह बताता है कि उसका कंठ कोकिल की भाँति मधुर है। शशिवृता के इस अनुपम सौन्दर्य-वर्णन को सुनकर पृथ्वीराज को श्रोतानुराग उत्पन्न हो जाता है। रात्रि के समय उसे नींद नहीं आती। यदि कुछ देर के लिए नींद आ भी जाती है तो निद्रा में भी वह स्वप्न में शशिवृता को ही देखता है। प्रातःकाल होने पर राजा हंस से पुनः शशिवृता के विषय में ही पूछना प्रारम्भ कर देता है। सर्वप्रथम हंस शशिवृता की उत्पत्ति के विषय में बताता है। वह पृथ्वीराज को यह बतलाता है कि शशिवृता चित्ररेखा नामक अप्सरा का अवतार है। वह शशिवृता को कामदेव के साधे हुए बाण के समान बताता है। हंस का पृथ्वीराज के प्रति कथन है कि वह बाला उसे (पृथ्वीराज को) ही प्राप्त करने के लिए नित्यप्रति गौरी की पूजा करती है। शशिवृता की उत्पत्ति के विषय में बताकर हंस पृथ्वी-राज को यह बताता है कि शशिवृता को उसके प्रति किस प्रकार श्रोतानुराग उत्पन्न हुआ। हंस कहता है कि राजा भान का आनन्दचन्द्र नाम का मन्त्री है। उसकी बहन चन्द्रिका का विवाह दूर देश हिंसार में हुआ, किन्तु विवाह के कुछ ही दिनों के अनन्तर उसका पति स्वर्ग चला गया। आनन्दकन्द अपनी बहन चन्द्रिका को अपने घर ले आता है। अपने भाई के घर आने के कुछ ही दिनों बाद चन्द्रिका राजा भान के अन्तःपुर में प्रवेश प्राप्त कर लेती है। शशि-वृता राजा भान के छोटे भाई पुंज की पुत्री है। शशिवृता को, देखकर चन्द्रिका मन्त्रमुग्ध हो जाती है और उसके भावी पति के विषय में चिन्तन करने लगती है। उपयुक्त अवसर पाकर चन्द्रिका शशिवृता से पृथ्वीराज के विषय में निवेदन करती है। पृथ्वीराज के गुणों को सुनकर शशिवृता को श्रोतानुराग उत्पन्न हो जाता है और वह पृथ्वीराज को ही पतिरूप में प्राप्त करने की प्रतिज्ञा कर लेती है। इसके लिए वह नित्यप्रति भगवान शंकर की पूजा करती है। भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं, स्वप्न में पार्वती आकर भगवान शंकर के दिये हुए वरदान को शशिवृता को बताती हुई उससे कहती है कि भगवान् शंकर ने उसे (शशिवृता को) यह वरदान दे दिया है कि उसे पृथ्वीराज ही पति के रूप में मिलेगा।

हंस पृथ्वीराज को यह बताता है कि इतना सब कुछ हो जाने के बाद ही

शशिवृता ने उसे (हंस को) उसके (पृथ्वीराज के) पास भेजा है। हंस पृथ्वीराज को यह भी बताता है कि शशिवृता के पिता ने उसका विवाह जयचन्द के भाई वीरचन्द से तै कर दिया है, अतः वीरचन्द भी उसके साथ विवाह करने को अपनी सेना सजाकर आयेगा। यह समाचार सुनकर पृथ्वीराज के हृदय में उद्विग्नता उत्पन्न होती है। वह यह सहन नहीं कर सकता कि शशिवृता जैसी अनिन्द्य सुन्दरी, जो उससे (पृथ्वीराज से) प्रेम करती है, किसी अन्य की होकर रहे। वह शशिवृता से मिलने के लिए हंस से संकेत-स्थल पूछता है। हंस उसे हरसिद्धि नामक स्थान वताता है। पृथ्वीराज हंस से उसी स्थान पर आने के लिए शशिवृता को भी कहने को कहता है। हंस इस वात को स्वीकार करके देवगिरि (राजा भान की नगरी) की ओर उड़ जाता है।

हंस के चले जाने के वाद राजा अपने चुने हुए सामन्तों की तथा सेना को अपने साथ लेता है। कवि ने इस अवसर पर उसके सामन्तों तथा उन सामन्तों के घोड़ों का बड़ा ही ओजपूर्ण चित्र खींचा है। शुभ मुहूर्त को दिखवाकर राजा पृथ्वीराज दक्षिण दिशा की ओर प्रयाण कर देता है। उधर कमधज वीरचन्द भी एक लाख दस हजार सेना लेकर देवगिरि पहुँचता है। वीरचन्द का आगमन सुनकर शशिवृता आत्महत्या करना चाहती है। इतने में वह पृथ्वीराज के आगमन के विषय में सुनती है और उसके हृदय में प्रेम का सागर तरंगित होने लगता है। वह प्रेमसागर में उत्कण्ठा-पूर्वक गोते लगा ही रही होती है कि इतने में हंस आकर उसे यह सूचना देता है कि जिसका उसने पातिव्रत्य ले रखा है वही चौहान राजा पृथ्वीराज गुप्त रूप से देवगिरि आ चुका है।

हंस की उपर्युक्त बात सुनकर शशिवृता अपने माता-पिता तथा परिवार वालों से आज्ञा लेकर देवपूजन के बहाने हरसिद्धि नामक स्थान को प्रस्थान करती है। देवालय को चलने के पूर्व शशिवृता सुन्दर ढंग से अपना शृंगार करती है। कवि ने शशिवृता के इस शृंगार का बड़ा ही विशद वर्णन प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम कवि उन आभूषणों एवं वस्त्रों का वर्णन प्रस्तुत करता है जिसे शशिवृता धारण करती है। तदनन्तर उसकी चित्तवृत्ति शशिवृता के शारीरिक सौन्दर्य-वर्णन में विशेष रमी है। अपना भली प्रकार शृंगार-प्रसाधन कर शशिवृता पालकी में सवार होकर देवालय को गमन करती है। वीरचन्द ने चारों

ओर से अपनी सेना लगा रखी है। कमधज वीरचन्द को देखकर शशिवृता की छाती धड़कती है और वह पुनः-पुनः पृथ्वीराज का स्मरण करती है। उसके साथ में उसकी सहेलियों की तरह अन्य पालकियाँ हैं। उसके चारों ओर पाँच सौ दासियाँ चल रही हैं। शशिवृता देवपूजा के लिए अपनी पालकी से उतर पड़ती है।

जब पुंज को यह पता चलता है कि दूल्हा वीरचन्द भी देव-पूजन के बहाने हरसिद्धि नामक स्थान पर पहुँच गया है तो युद्ध की आशंका से वह भी अपनी सेना सजाकर उस स्थान पर पहुंच जाता है। पृथ्वीराज के आने का पता तो पहले ही लग चुका है। राजा भान को यह भी पता है कि राजकुमारी शशिवृता पृथ्वीराज से प्रेम करती है और यदि उसका विवाह वीरचन्द से किया गया तो वह अपने प्राण दे देगी, अतः बाला के कल्याणार्थ राजा भान चुपके-से अपना दूत पृथ्वीराज के पास भेज देता है। इधर जब पृथ्वीराज यह देखता है कि शशिवृता हरसिद्धि नामक स्थान पर आ चुकी है तो वह अपने सात हजार कटीले वीरों को कापाली-वेष धारण करने को कहता है। राजा तथा उसके वीर कापालिक-वेष धारण करके देवालय में प्रवेश पा लेते हैं। पृथ्वीराज का उस समय रौद्ररूप होता है। वह अन्दर आकर शशिवृता को अपने हाथों से पकड़ लेता है। ऐसे अवसर पर कवि की कल्पना मुखरित हो उठती है और वह कह बैठता है—'मानो कि लता कंचन लहरि। मत्त वीर गजराज गहि।' इतना ही नहीं आगे वह कहता है—'काम लता कल्हरी। पेम मारुत झकझोरी।' ऐसे अवसर पर शशिवृता सकुचा जाती है, यद्यपि उसके हृदय में अपार मोद है। वह अपने हृदय की बात अपने प्रियतम के कान में बड़े मधुर ढंग से कह देती है।

फिर क्या था, उसका जो परिणाम होना था, वह होकर ही रहता है। लोहा बजने लगता है। उस समय वीर कमधज अपने खड्ग से रक्त का अर्पण प्रारम्भ कर देता है। उस समय उसका केसरिया बाना ही कवच और मौर ही शिरस्त्राण बन जाता है। उधर पृथ्वीराज भी युद्ध करने की प्रतिज्ञा कर चुका है। दोनों वीर भिड़ जाते हैं और भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। दोनों वीर युद्ध करते हुए मंदिर से मतवाले बने हाथियों की भाँति शोभा पा रहे हैं।

भूत, वैताल, पिशाच, पिशाचिनी, काली तथा महादेव का युद्धभूमि में आना प्रारम्भ हो जाता है। कवि इस युद्ध की तुलना उस युद्ध से करता है, जिसमें शस्त्रों द्वारा बल-प्रदर्शन ही वेदारम्भ है, गज, अश्व तथा मनुष्य होमे जा रहे है, वीरों के शिर ही आहुति के साथ स्वस्तिफल के रूप में होते जा रहे हैं। क्रोध का ही कुण्ड बना हुआ है, कीर्ति-चाहना ही मण्डप है, मांस ही शाकल है, अप्सराओं का गान ही मंगल-पाठ है तथा जिसमें प्राण ही दान में दिये जा रहे हैं।

युद्ध करते-करते राजा पृथ्वीराज चौहानवंशी कन्ह को युद्ध करने की आज्ञा देता है। राजा का निर्देश पाते ही कन्ह अपने विपक्षी योद्धाओं पर इस प्रकार टूटता देखा जाता है जैसे मानो तीतर पर बाज टूट रहा हो। उधर से यादव-सेनापति भी आकर कन्ह से भिड़ जाता है। दोनों अनुपम वीर हैं। एक-दूसरे के सामने कोई भी अपना शिर नहीं झुका रहा है। युद्ध की ऐसी विषम परिस्थिति में कुमारी शशिवृता के नेत्रों में शृंगार रस, वीर सामन्तों में वीर रस, पृथ्वीराज में रौद्र रस, कवि चन्द में अद्‌भुत रस, कायरों में करुण रस, शत्रु-समूह में बीभत्स रस, मृतकों में शान्त रस, अप्सराओं में हास्य रस तथा देवताओं में भयानक रस देखा जाता है। इस अवसर पर कवि ने युद्ध का बड़ा सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है।

अनेक प्रकार से युद्ध होने के बाद वीरचन्द की सेना का एक नाई आगे बढ़कर आता है, बड़ी भयंकरता से युद्ध करता है और अन्त में वीरगति को प्राप्त हो जाता है। नाई का मारा जाना देखकर वीरचन्द अपना भी मरण समझ लेता है और अपने वीरों को प्रेरणा देता हुआ वह शत्रुओं की सेना को विध्वस्त करने का आदेश देता है। इतने में रात्रि हो जाती है और दोनों सेनाएँ विश्राम करने के लिए लौट पड़ती हैं। कवि ने यहाँ पर रात्रि का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है।

उसी रात में पृथ्वीराज के वीर सामन्त उससे शशिवृता को लेकर दिल्ली चले जाने का अनुरोध करते हैं, किन्तु पृथ्वीराज इसके लिए उद्यत नहीं होता। एक तो वह अनेकों दृष्टान्त देते हुए यह बताता है कि उसकी अनुपस्थिति में वे वीर सामन्त युद्ध नहीं कर सकेंगे। दूसरे वह यह नहीं चाहता कि वह तो स्वयं

जाकर शशिवृता के साथ रँगरेलियाँ मनाये और उसके प्रिय सामन्त उसके लिए प्राण देते रहें। सहसा युद्ध फिर प्रारम्भ हो जाता है। इस बार और भी अधिक मात्रा में मारकाट होने लगती है। शशिवृता ऐसे दृश्य को देखकर काँप उठती है, आखिरकार नारी-हृदय ही तो ठहरा। वह बड़े सतृष्ण नेत्रों से पृथ्वीराज की ओर देखती है। पृथ्वीराज उसके आशय को ताड़ जाता है और युद्ध से विराम लेना निश्चय कर लेता है। जो कार्य वीर सामन्तों का प्रेमपूर्ण आग्रह भी न कर सका, वही कार्य प्रेयसी की भयभीत चितवन कर दिखाती है। परिणाम स्वरूप पृथ्वीराज युद्ध से हट जाता है और दिल्ली की ओर प्रस्थान कर देता है। पृथ्वीराज के चले जाने के बाद उसका निड्डुरराय नामक एक वीर सामन्त वीरचन्द को यह बताता है कि दोनों ओर की पर्याप्त सेना कट चुकी है, अतः अब युद्ध करना व्यर्थ है। साथ ही जिसके लिए युद्ध किया जा रहा है, उस शशिवृता को लेकर तो पृथ्वीराज यहाँ से जा चुका है। जब वीरचन्द को यह पता लगता है कि पृथ्वीराज शशिवृता को लेकर वहाँ से जा चुका है तो वह क्रोध के आवेश में आकर अपने घोड़े की रास उठा देता है और आधा कोस आगे जाकर पृथ्वीराज को घेर लेता है। पुनः दोनों सेनाओं में तुमुल युद्ध होता है। पृथ्वीराज भी अपनी भोगेच्छा को विस्मृत कर घमासान युद्ध करने लगता है और वीरचन्द्र को धर दबाता है। वीरचन्द पर विजय प्राप्त करके पृथ्वीराज दिल्ली की ओर प्रस्थान करता है। उसका आगमन सुनकर दिल्ली नगर में तोरणोत्सव मनाया जाता है। पृथ्वीराज शशिवृता-सहित नगर में प्रवेश करता है और इसके साथ ही प्रस्तुत प्रकरण की कथा का अन्त हो जाता है।

६ | शशिवृता-विवाह : नामकरण

प्रस्तुत प्रकरण का नामकरण 'शशिवृता-विवाह नामकरण' बहुत ही सोच-समझकर किया गया है। यदि इस नाम को छोड़कर इस प्रकरण को कोई अन्य नाम दिया जाता तो उस नाम में प्रकरण की पूर्ण कहानी का संकेत देने की क्षमता न होती। यद्यपि 'पृथ्वीराज रासो' के इस खण्ड के लिए 'शशिवृता-सौन्दर्य वर्णन', 'शशिवृता-पृथ्वीराज-प्रेम-वर्णन', 'पृथ्वीराज-वीरचन्द-युद्ध-वर्णन' आदि कितने ही नाम प्रस्तावित किये जा सकते हैं, किन्तु खण्ड की सम्पूर्ण कथा को अपने में समाविष्ट करने की इन नामों में से किसी भी नाम में सामर्थ्य नहीं, प्रस्तुत प्रसंग में 'प्रस्ताव' का अर्थ 'प्रकरण' है। खण्ड के पूरे नाम की व्याख्या कुछ इस प्रकार होगी--वह प्रकरण जिसमें शशिवृता की उत्पत्ति, उसके पृथ्वीराज विषयक प्रेम, उसके सौन्दर्य तथा उसके आधार पर है पृथ्वीराज एवं वीरचन्द के युद्ध का वर्णन। प्रकरण के नामकरण की समीचीनता सिद्ध करने के लिये अनेकों तर्क दिए जा सकते हैं।

सर्वप्रथम तो प्रस्तुत खण्ड की कहानी का प्रारम्भ ही शशिवृता को लेकर होता है। स्वयं शुकी को शशिवृता के विषय में इतनी जिज्ञासा है कि वह शुक से बड़ी उत्सुकतापूर्वक शशिवृता की उत्पत्ति तथा उसके पृथ्वीराज के साथ विवाह होने के विषय में पूछती है।

दूसरे, गन्धर्व को भी शशिवृता के प्रति इतना मोह है कि वह शशिवृता के कल्याण के लिए ही स्वर्णिम हंस का शरीर धारण करके आता है तथा उसी के मंगल के लिए उसका सन्देश पृथ्वीराज के पास लेकर जाता है।

तीसरे, इस प्रकरण में शशिवृता के सौन्दर्य का इतना अधिक वर्णन किया गया है कि वह 'पृथ्वीराज रासो' के प्रतिपाद्य रस वीर रस को भी अभिभूत कर लेता है।

चौथे, पृथ्वीराज के हृदय में भी शशिवृता के ही प्रेम का अंकुर अंकुरित होते दिखाया गया है। उसी के प्रेम में वह इतना मतवाला हो जाता है कि हंस

से पुनः-पुनः शशिवृता के विषय में ही पूछता है, यहाँ तक कि रात्रि में भी शशिवृता के चिन्तन में ही वह जागता रहता है। शशिवृता को प्राप्त करने के लिए ही वह अविलम्ब अपनी सेना को सज्जित कर दक्षिण की ओर यात्रा कर देता है।

पाँचवें, स्वयं वीरचन्द भी शशिवृता की ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। वह भी अपनी सेना को लेकर उससे विवाह करने को चल पड़ता है।

स्वयं, छठे शशिवृता के स्वजनों को भी उससे इतना मोह है कि राजा भान यद्यपि उसका विवाह वीरचन्द से तय कर देते हैं, अतः उन्हें अपनी मर्यादा का पालन करना चाहिए, तथापि जब उन्हें यह पता लगता है कि शशिवृता पृथ्वी-राज से प्रेम करती है ओर वीरचन्द के साथ उसका विवाह किए जाने पर वह प्राण दे देगी, तो वह भी पृथ्वीराज को आया सुनकर अपनी मर्यादा का ध्यान न रखते हुए चुपके से पृथ्वीराज के पास अपना दूत भेज देते हैं।

सातवें, इस प्रकरण में जिस तुमुल युद्ध का विशद वर्णन है, वह भी शशि-वृता के लिए ही होता है, उसके भी मूल में शशिवृता ही है, अतः प्रकरण का नाम सार्थक ही है।

उपर्युक्त समस्त बातें और घटनाएँ शशिवृता के वरण करने के विषय को लेकर ही घटित होती हैं। सबका केन्द्र शशिवृता का विवाह है। शशिवृता का वरण करने के लिए ही आर्यावर्त के दो पराक्रमी राजा परस्पर भयंकर लोहा बरसाते हैं। अकेले शशिवृता की माँग में ही सिन्दूर भरने के लिए न जाने कितने सिन्दूर पोंछे जाते हैं और रक्त की होली खेली जाती है।

पाठक का हृदय भी उन्हीं स्थलों पर विशेष रूप से रमता है, जहाँ शशि-वृता के मादक सौन्दर्य का वर्णन है। वह 'लता कंचन लहरि' तथा 'कामलता कल्हरी' को विस्मृत नहीं कर सकता।

प्रकरण का आरम्भ शशिवृता से होता है, अवसान शशिवृता में होता है। पृथ्वीराज जैसे पराक्रमी राजा की रोमानी भावनाओं का आधार यही शशिवृता है।

वैसे तो 'पृथ्वीराज रासो' का प्रधान रस वीर है, किन्तु 'कामलता कल्हरी' शशिवृता को पाकर कबि का हृदय मचलने लगता है। यह 'कंचन लता' उसे

इस प्रकार अभिभूत कर लेती है कि वह अपने प्रतिपाद्य विषय को बहुत समय तक भूले रहता है और उसी के वर्णन में पृष्ठ-पर-पृष्ठ भरता चला जाता है। यह सब किसलिये ? केवल शशिवृता को वधू-रूप में देखने के लिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूरी कथा का केन्द्रविन्दु शशिवृता है। वह पूरी कथा में क्षण-भर के लिए भी दूर नहीं होती। शशिवृता भी वालिका शशिवृता नहीं है, प्रत्युत किशोरावस्था में प्रविष्ट मुग्धा शशिवृता है, जिसके हृदय में कामदेव अज्ञात रूप से अपना घर बनाता जा रहा है। इस प्रकार कथा का आगे वढ़ना सूचित करता है कि आगे चलकर जो कुछ घटित होने जा रहा है, उस सवका मूल कारण शशिवृता ही होगी, और है भी वस्तुतः ऐसा ही।

उपर्युक्त समस्त वातों पर दृष्टिपात करते हुए यही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत प्रकरण को जो 'शशिवृता-विवाह : नामकरण' नाम दिया गया है, वह पूर्णरूपेण तर्कसंगत, उपयुक्त और समीचीन है।

७ | शशिवृता-विवाह : काव्य-सौष्ठव

किसी भी साहित्यिक कृति अथवा उसके खण्ड-विशेष को परखने के लिए साहित्य के दो पक्षों—भाव-पक्ष, एवं कला-पक्ष—का अवलम्बन लेना पड़ता है। 'पृथ्वीराज़रासो' के 'शशिवृता-विवाह' की परख भी इसी कसौटी पर कसकर प्रस्थापित की जा रही है।

भाव-पक्ष

प्राचीन काल से ही भाव-पक्ष को कला-पक्ष की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। इसके अन्तर्गत रस ही अपना प्रमुख स्थान रखता है। वस्तुतः देखा जाय तो 'शशिवृता-विवाह' में दो ही प्रमुख रस हैं—(१) शृङ्गार रस, (२) वीर रस। इन दोनों रसों का इस प्रकरण में इतनी सुन्दरता से परिपाक हुआ है कि यह कह सकना वड़ा कठिन कार्य हो जाता है कि इन दोनों में कौन-सा रस प्रधान है तथा कौन सा उसका अंगी वनकर आया है। इन दोनों के अतिरिक्त रौद्र और वीभत्स रसों का भी यत्र-तत्र अच्छा पुट मिल जाता है। कहने को तो यह भी कहा जा सकता है कि इस प्रकरण में भले ही अन्य रसों का परिपाक न हुआ हो, किन्तु उन सबका उल्लेख तो मिल ही जाता है।

वीर-रस

'पृथ्वीराज रासो' का प्रधान रस वीर है। कवि ने अपने नायक का दर्पपूर्ण चित्र उपस्थित करके अपने काव्य में वीर रस का सम्यक् समावेश किया है। वीरगति प्राप्त करना ही वीरों का धर्म है। कवि ने शशिवृता-विवाह में यह वताया है कि वीरों की मोक्ष-प्राप्ति का सरल उपाय युद्धभूमि में अपने प्राणों का उत्सर्ग ही है। वीर हँसते-हँसते यह उत्सर्ग करते हैं—

'मिलि दान अस्स अप्पन जुगति। भगति मुगति तन पावहीं॥'

वीरों को युद्ध में प्राण देने का एक लोभ भी होता है। वे समझते हैं कि वीरगति प्राप्त करने के उपरान्त अप्सरायें उनका वरण करेंगी और उनके मस्तकों को भगवान् शंकर अपनी मुण्डमाला में गूँथेंगे—

'अच्छरि तन मज्जं बरे बर जं जं चित्तं वज्जं मन मज्जं।'

'स्वामि काज लग्गे सुमति। षंड षंड धर धार॥
हार हार मण्डे हियै। गुथ्थि हार हर हार॥'

स्वामिभक्ति इन वीरों की महान् विशेषता है। अपने स्वामी के कार्य के लिए ये वीर अपने प्राणों को हँसते-हँसते बलिदान कर देते हैं।

वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' है, जिसकी अभिव्यक्ति हमें यदि प्रस्तुत प्रकरण में सर्वत्र नहीं मिलती तो इसके उत्तरार्ध में तो मिलती ही मिलती है।

वीर चार प्रकार के होते हैं—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर। पृथ्वीराज को कवि ने इन सभी रूपों में चित्रित किया है। किन्तु 'शशिवृता-विवाह प्रस्ताव' में उसकी अवतारणा प्रमुख रूप से युद्धवीर के ही रूप में हुई है। साथ ही कवि ने 'इक अडंड करि डंडइस' कहकर उसकी दयावीरता की ओर भी संकेत कर दिया है।

रौद्र रस

यद्यपि इस प्रकरण में रौद्र रस की अवतारणा स्वतन्त्र रूप से नहीं हुई है, फिर भी पृथ्वीराज तथा उसके सामन्तों में रौद्र रस की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है—

'रुद्र प्रथिराज बिराजै।'

बीभत्स रस

प्रस्तुत प्रकरण में इस रस की स्वतन्त्र सत्ता न होकर वह वीर एवं रौद्र रसों के अन्तर्गत ही दिखायी पड़ता है। जब युद्ध होता है तो पृथ्वी रुण्ड-मुण्डों से आच्छादित हो जाती है, महादेव मुण्डों की मालाएँ गूँथने लगते हैं, काली अपना खप्पर लेकर नृत्य करते हुए रक्तपान करती है, 'वैताल, पिशाच, पिशाचिनियाँ उद्धत नृत्य करते हुए आनन्द मनाते हैं।'

भयानक रस

इस प्रकरण में भयानक रस शशिवृता के ग्रहण के समय वीरचन्द में और रात्रि में भी युद्ध की सज्जा देखकर देवताओं में देखा जाता है।

अद्‌भुत रस

जब पृथ्वीराज कन्ह को युद्ध करने का आदेश देता है, उस समय इस रस का आभास मिल जाता है—

'मुष छुट्टा अप बैनं। कै दिठ्ठाय धावता नैनं।'

शृङ्गार रस

वीर रस की उद्‌भावना सिद्धहस्त कवि चन्द ने तलवारों की टंकार ही में नहीं, सुन्दरियों के नूपुर की झंकार में भी सुनी है। 'शशिवृता-विवाह प्रस्ताव' में तो शृङ्गार रस ही प्रधान रस दृष्टिगोचर होता है। कवि ने अल्हड़ यौवन में प्रवेश करती हुई शशिवृता को 'थोरथनी' (लघुस्तनी) बताकर कितना सुन्दर नूतन प्रयोग किया है। संस्कृत-साहित्य में प्रचलित सभी उपमानों का आश्रय लेकर कवि ने शशिवृता का नख-शिख-वर्णन प्रस्तुत किया है—

"राका अरु सूरज्ज विच, उदै अस्त दुहुँ वेर।
वर शशिवृत्ता शोभई, मनौ शृङ्गार सुमेर॥"

केवल इतना ही नहीं, शशिवृता के उभरते हुए यौवन की कवि ने वसंतागम से उपमा दी है—

"पत्त पुरातन झरिग पत्त अंकुरिय उट्ठ तुछ।
ज्यों सैसव उत्तरिय चढ़िय वैसव किसोर कुछ॥
शीतल मन्द सुगन्ध आइ रितिराग अचानं।
रोमराइ संग कुच नितंब तुच्छं सरसानं॥
वढ्ढै न सीत कटि छीन ह्वै, लज्ज मांग ढंकनि फिरै।
ढंकै न पत्त ढंकै कहै, बन वसंत मत्त जु करै॥"

शशिवृता द्वारा पृथ्वीराज के प्रथम दर्शन पर शशिवृता की स्थिति कितनी रूमानी है—

"यों करंत दुत्तिय वियौ, कथा श्रवन सुनि मंत।
जाकौ तें पतिवृत्त लिय, सो आयो अलि कंत॥
श्रवन नयन को मेल कौ, भय चंचल चल चित्त।
श्रोतानं दिष्टान अरु, मिलि पुच्छै दोइ मित्त॥
कर्न प्रयंत कटाछ, सुरंग विराजही।
कछु पुच्छन को जाहि पै पुच्छत लाजही॥
नैन सैन के वात जु स्रवनन सों कहैं।
काम किधों प्रथिराज मेदि करि ना लहैं॥"

प्रायः कवियों ने सुन्दरियों के नेत्रों को 'कानन चारी नयन मृग' कहकर छोड़ दिया है, किन्तु कानों तथा नेत्रों में वार्तालाप कराना कवि चन्द की अपनी उद्भावना है।

जिस समय पृथ्वीराज शशिवृता को पकड़ता है, उस समय शशिवृता की भावशवलता कितनी मनोहारिणी है—

"गहत वाल पिय पानि सु गुरुजन संभरे।
लोचन मोचि सुरंग सु अंसु वहे ढरे॥
अपमंगल जिय जानि सु नैनन मुष वही।
मनो षंजन मुष मुत्ति भरक्कत नंषही॥"

शृङ्गार रस के अन्तर्गत ही नायिका-भेद वर्णन आता है। कवि ने शशिवृता को मुग्धा—अज्ञातयौवना—नायिका के रूप में चित्रित किया है—

"ससिर अंत आवन वसंत वालह सैसव गम।
अलिन पंष कोकिल सुकंठ सजि मुंड मिलत भ्रम॥
मुर मारुत मुरि चले मुरे मुरि बैस प्रमानं।
तुछ कोंपर सिस फुट्टि आन किस्सोर रंगानं॥
लीनी न अंमित्तक स्यांम तन मधुर-मधुर धुनि-धुनि करिय।
जानी न वयन आवन वसंत अग्याता जोवन अरिय॥"

'पृथ्वीराज रासो' के अन्य संस्करणों में तो इसी प्रकरण में कवि ने एक-एक कवित्त में पद्मिनी, हस्तिनी, चित्रिणी तथा शंखिनी नायिकाओं के अलग-अलग

लक्षण दिये हैं, किन्तु इतना होने पर भी रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने नायिका-वर्णन को अपना प्रमुख विषय नहीं बनाया है।

शशिवृता के नख-शिख वर्णन में कवि की चित्तवृत्ति इतनी रमी है कि उसके सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि अघाता ही नहीं है—

"बाला बेनी छोरि करि छुट्टै चिहर सुभाई।
कनक थंभ तें ऊतरी उरग सुता दरसाइ॥"

और भी—

"मय मंजन मंडित बाल तनं। घनसार सुगंध सुबोरि घनं॥
नव लोइन अंजित मंजि चली। कि मनो कस कुंदन षंभ हली॥
सुभ वस्त्र सुअंग सुरंगन सी। सुहली मनु साष मन्न कसी॥
जरि जेहरि पाई जराइ जरी। सजि भूषन नम्भ मनौ उतरी॥
सिगरी लट यों विथरी विगसैं। शशि के मुख तें अहि से निकसैं।
रंग रत्त उवट्टन उज्जल कैं। तिन में कछु सेत सुधा चलि कैं॥
नव राजिय रोम विराज इसी। जमना पर गंग सरस्वति सी॥
परिपान सकुंकुम मज्जन कैं। नव नीरज अंजन नैननि कैं॥"

कवि को इतने से ही सन्तोष नहीं होता। वह अन्यत्र कहता है—

"कलिंद सीम केसरा। अनंग अंग लोभयं॥
उठंत कुंभ कुंचयं। उपंम कब्बि सुच्चयं॥
मनों जरंत बाल की। धरी सु आनि लाल की॥
सुभंत रोम राजयं। प्रपील पंति छाजयं॥
मनोज कूप नाभिका। चलंत लोभ आलिका॥
सुरंभ सोभ पिंडुरी। परादि काम पिंडुरी॥
नितंब तुंग सोभए। अनंग अंग लोभए॥
मनौ कि रथ्थ रंभके। सुरम्भ चक्क संभ के॥
नषादि आदि अच्छनं। मनों कि इंद्र द्रप्पनं॥
ढारंत रत्त एडियं। उपम्म कब्बि टेरियं॥
मनौं कि रत्त [illegible]। [illegible] पद अंबुजा॥"

इतना ही क्यों कवि ने और न जाने कितने ही स्थलों पर शशिवृता के एक-एक अवयव का कई-कई प्रकार से वर्णन उपस्थित किया है।

कवि चन्द ने सभी रसों का अलग-अलग विवेचन तो किया ही है, साथ ही साथ उनमें एक विशेषता है, और वह नवों रंसों का एक स्थान पर विधान करना। जब पृथ्वीराज और वीरचन्द रात में भी लोहा वरसाना चाहते हैं, ता किस-किस में कौन-कौन रस दिखायी पड़ता है, इसका मनोहारी वर्णन देखिये—

"भान कुंअरि शशिवृत्ति, नैन शृंगार सुराजै।
वीर रूप सामंत, रुद्र प्रथिराज विराजै॥
चंद अदम्भुत जानि, भए कातर करुनामय।
वीभछ अरिन समूह, सांत उप्पनौ मरन भय॥
उप्पज्यौ हास अपछरि अमर, भौ भयान भावी बिगति।
कूरंभराव प्रथिराज वर, लरन लोह चिंते तरनि॥"

उपर्युक्त छन्द में शृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत, करुण, वीभत्स, शान्त, हास्य तथा भयानक इन नौ रसों का एक साथ ही समावेश मिलता है।

एक दूसरे स्थान पर, जब पृथ्वीराज शशिवृता को पकड़कर अपने घोड़े पर बिठा लेता है, छः रसों का एक साथ ही समावेश किया गया है—

"नृप भयौ रुद्द करुना सुत्रिय, वीर भोगं वर सुभर गति।
सगपन सुहास वीभच्छरिन, भय भयान कमधज्ज दुति॥"

यहाँ पर राजा पृथ्वीराज में रौद्र, शशिवृता में करुण, सामन्तों में वीर, शशिवृता के सम्बन्धियों में हास्य, युद्धक्षेत्र में वीभत्स और वीरचन्द में भयानक रस का आधान किया गया है।

कला-पक्ष

भाषा

एक सिद्धहस्त कवि से यही आशा की जाती है कि वह भावों के अनुरूप ही भाषा की संयोजना कर सके। चन्द को इस कार्य में अद्भुत सफलता मिली है। युद्ध-रस के वर्णन में उन्होंने ऐसे व्यंजनों का प्रयोग किया है, जिन्होंने काव्य में ओज कूट-कूटकर भर दिया है। युद्ध-वर्णन के समय चन्द के शब्द एक

दूसरे पर टूटते से-दिखायी देते हैं, जिससे युद्ध का सजीव चित्र पाठक के समक्ष आ उपस्थित होता है। इन वर्णनों में टंकार की बहुलता, महाप्राणत्व और द्वित्त एवं सामासिक शब्दों का प्रयोग भाषा में ओज गुण को प्रभूत मात्रा में भर देता है। उदाहरणार्थ—

"वर बांन बिछुट्टै वगतर फुट्टै पारन घुट्टै अहुट्टै धर तुट्टै।
तरवारिन तुट्टै धम्मर लुट्टै अंग अहुट्टै गहि झुट्टै।"

किन्तु जहाँ पर शृंगार रस का विधान है, वहाँ भाषा की कोमलता देखने योग्य होती है। 'काम लता कल्हरी' और 'लता कंचन लहरि' में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं।

अलंकार-विधान

कवि की सफलता इसमें है कि उसके द्वारा प्रयुक्त अलंकार काव्य के आभूषण बन कर आये, भार बनकर नहीं। कवि चन्द ने जहाँ कहीं भी अलंकारों का आश्रय लिया है, वहाँ भाव-सौन्दर्य के उत्कर्ष-विधान के लिए ही लिया है। शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों दोनों ही का प्रयोग उन्होंने बड़ी कुशलतापूर्वक किया है। यद्यपि उन्होंने अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक सन्देह, निदर्शना, स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग अपने काव्य में बड़ी सुन्दरता से किया है, तथापि उपमा एवं उत्प्रेक्षा अलंकारों की तो उन्होंने बाढ़ ही ला दी है। शशिवृता-विवाह प्रस्ताव में आये हुए अलंकारों में से कुछ अलंकारों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

अनुप्रास—"सबर बीर कमधज्ज, अरघ अप्पिय षग मग्गं।"

यमक—"हार हार मंडे हियै गुथ्थि हार हर हार।"

श्लेष—"लाज बंधि संकरिय, वीर वंध्यौ सु अष्ट कसि।"

उपमा—"शशि वृत्त बाल रंभह समह, मिलिय गंठि बंधन सुहिय।"

रूपक—'मनमत्थ महावत बंधि अति, मन मत्तौ उन को धरै।"

सांगरूपक का एक अति भव्य उदाहरण देखिये—

"विषम जग्य आरम्भ, वेद प्रारम्भ शस्त्र बल।
है गै नर होमियं, शीश आहुति स्वस्ति फल॥

क्रोधकुंड विस्तरिय, कित्ति मंडप करि मंडिय।
गिद्धि सिद्धि वेताल, पेषि पल साक्कत छंडिय।
तुंबर सु नाग किंनर सुचर, अच्छरि अच्छ सुगावहीं।
मिलि दान अस्स अप्पन जुगति, भुगति मुगति तत पावहीं॥"

उत्प्रेक्षा—यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो 'शशिवृता विवाह प्रस्ताव' में जितने स्थलों पर अलंकारों का प्रयोग हुआ है, उनमें से लगभग अस्सी प्रतिशत स्थल ऐसे होंगे, जहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार की ही छटा दिखायी पड़ती है। जहाँ कहीं भी कवि को शशिवृता के सौन्दर्य-वर्णन अथवा युद्ध-वर्णन का अवसर मिला है, वहाँ पर प्रायः उत्प्रेक्षा अलंकार पर उतर पड़ा है। इस प्रकरण में ये दो ही प्रमुख वर्णन हैं—(१) शशिवृता-सौन्दर्य-वर्णन (२) युद्ध-वर्णन, अतः यदि उत्प्रेक्षा अलंकार के उदाहरण देने आरम्भ कर दिये जाएँ तो कथा का लगभग एक-तिहाई भाग इन्हीं उदाहरणों में आ जायेगा, किन्तु फिर भी दो-एक उदाहरण देखिये—

"इह कहि कड्डिय सार कर, पोलि पग्ग दोउ पानि
मानहु मत्त अनंग द्वै, धृत छुट्टै जम जांनि॥"
"सुगंध केस पासयं, सुलग्गि मुत्त छंडियं।
अनेक पुष्प वीचि गुंथि, भासिता त्रिपंडियं॥
मनों सनाग पुप्फ जाति, तीन पंथि मंडियं।
दुती कि नाग चन्दनं। चढंत दुद्ध पंडियं॥"

निदर्शना—"सारिन सालै पंस बर, सारि पंस बर भोग।
सुबर सूर सामंत लै, करि दिल्ली प्रतिजोग॥"

अतिशयोक्ति—"वाला वेनि छोरि, करि, छुट्टै चिहर सुभाइ।
कनक थंभ तें ऊतरी, उरग सुता दरसाइ॥"

स्वभावोक्ति—"कुमुद उघरि मूंदिय, सु वंधि सतपत्र प्रकारय।
चकिय चक्क बिच्छुरहि चक्कि शशिवृत निहारय॥
जुवती जन चढ़ि कांम, जाँहि कोतर तर पंषी।
अवृत वृत सुन्दरिय, काम वढ्ढिय वर अंषी॥

नव नित्त हंस हंसिहि मिलै, विमल चन्द उग्यौ सुनभ ।
सामंत सूर अप रष्षि कै, करहि वीर वीश्राम सभ ॥"

व्यतिरेक—"आवृत वृत्त गुन निग्रह राज, देव जुद्ध देवत्तह साज ।"

इसी प्रकार इस 'शशिवृता विवाह प्रस्ताव' में अनेकों अलंकार भरे पड़े हैं जिनका उल्लेख यहाँ पर सम्भव नहीं।

छन्द-विधान

चन्द वरदाई को छन्दों का राजा कहा जाता है। जितने प्रकार के छन्दों का प्रयोग कवि चन्द ने किया है, उतने प्रकार के छन्दों का प्रयोग हिन्दी के बहुत कम कवियों, केवल केशवदास आदि में ही मिलता है। 'शशिवृता विवाह प्रस्ताव' में उन्होंने दूहा, कवित्त, चौपाई त्रोटक, छंद भुजंगी, छंद त्रोटक, चंद्रायना, गाथा, कुण्डलिया, छन्द नाराच, अरिल्ल, मुरिल्ली, त्रिभंगी तथा रसावाल इन चौदह छन्दों का प्रयोग किया है। विषय के अनुरूप छन्द का एकदम विधान कर देना कवि चन्द की अपनी विशेषता है। डॉ० नामवर सिंह के शब्दों में कहा जा सकता है—"वस्तुतः हिन्दी में चन्द को छन्दों का राजा कहा जा सकता है। भाव-भंगिमा के साथ-साथ दनादन भाषा नये-नये छन्दों में गति धारण करती चलती है और विशेषता यह है कि बल खाती हुई नदी में बहते हुए चित्त को कोई मोड़ नहीं खटकता। छन्द-परिवर्त्तन के प्रवाह में सहज आत्मविस्मृति का ऐसा सुख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।"

अन्य हृदयस्पर्शी वर्णन

ऋतु-वर्णन

ऋतु-वर्णन प्रमुखतया दो रूपों में किया जाता है—(१) आलम्बन रूप में, (२) उद्दीपन रूप में। चन्द ने प्रकृति का वर्णन प्रायः उद्दीपन रूप में किया है। कवि सन्त का वर्णन प्रस्तुत करता है, किन्तु शशिवृता का आलम्बन लेकर। इससे वर्णन में उद्दीपन की मात्रा अपनी चरम परिणति पर पहुँच गयी है।

इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज के देवगिरि प्रस्थान करते समय ज्योतिष का उल्लेख है। साथ ही साथ यत्र-तत्र सदूक्तियाँ भी बिखरी पड़ी हैं। राजनीति-

विषयक बातें भी यत्र-तत्र दिखाई पड़ जाती हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि एक कुशल कवि से हम जिन बातों की आशा करते हैं वे कवि चन्द में विद्यमान हैं।

'पृथ्वीराज रासो' के विषय में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की जो धारणा है, उसी धारणा को यहाँ अन्त में 'शशिवृता विवाह प्रस्ताव' पर भी लागू कर सकते हैं। उनका मत है—"भाषा में बेडौल और बेमेल ठूस-ठाँस नहीं है, उसमें कवित्व का सहज प्रवाह है। यहाँ चन्द वरदाई ऐसे सहज प्रफुल्ल कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं, जो विषम परिस्थितियों से भी जीवन-रस खींचते रहते हैं।"

व्याख्या-खण्ड

(मूल, शब्दार्थ, प्रसंग, व्याख्या, पाठान्तर और टिप्पणी-सहित)

६ | शशिवृता-विवाह

पुच्छ कथा सुख कहौ, समह गंध्रवी सुप्रैमहि ॥
स्रवन मंमि संजोगि । राज सम धरी सुनेमहि ॥
इम चितिय मन मझ्झि । चित्र सख गंध्रव ईसह ॥
(कैं) करो पति जुग्गनि ईस । ईस पुज्जै सु जग्गीसह ॥
सुक चिति बाल अति लघु सुनत । ततविन विस उपजै तिहि ॥
देव सभा न जद्दव ग्रपति । नालकेर दुज अनुसरहि ॥ १ ॥
नालकैर दुज गहिय । द्वार जैचन्द गयो अपु ॥
करी षबर हैजमह । अप्प अन्दर वुलाइ अप ॥
नालकेर दुज आनि । कह्यो राजन अवधारी ॥
देव सो सु गिरि भ्रिप भ्रत्ती । पुंज ससिवृत्त कुमारी ॥
सो दइय बंध सु नृप वीर कहु । लगन मास दिन पंचवर ॥
सुनि श्रवन एह गंध्रव्व कथ । चल्यौ सु दच्छिन देव घर ॥ २ ॥

शब्दार्थ—पुच्छ = पिछली, पूर्वजन्म की । समह = साथ गंध्रवी = (चित्ररेखा नामक) अप्सरा, प्रस्तुत प्रसंग में शशिवृता की ओर संकेत है, क्योंकि शशिवृता ही चित्ररेखा अप्सरा का अवतार थी जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट किया जायेगा । सुप्रेमहिं = प्रेमपूर्वक, मनोयोग पूर्वक । स्रवन = श्रवण कर्ण, कान । मंमि = अमृत । संजोगि = योग्य, तुल्य । सुनेमहिं = नियमपूर्वक । इम = ऐसा । चितिय = चिन्ता की, सोचा, विचार किया । मझ्झि = मध्य; अन्दर में । चित्र = चित्ररेखा नामक अप्सरा । गंध्रब ईसह = इन्द्र । जुग्गनि ईस = योगिनी पुर (दिल्ली) का स्वामी अथवा राजा पृथ्वीराज । ईस = भगवान शंकर, कहा जाता है कि भगवान् शंकर ने ही शशिवृता की पृथ्वीराज को पति-रूप में प्राप्त करने की साध पूरी की थी । पुज्जै = पूरी की, पूर्ण की । सु = उसकी । जग्गीसहि = जगती का स्वामी, पृथ्वीपति, राजा । चिति = चित्त में, हृदय में, मन में । बाल = बाला, यहाँ पर तात्पर्य शुकी से है । ततविन = उसके अर्थात् कथा के विना । बिस = विष, क्रोध । देव = देवास ।

जद्दुवभ्रपति = यादवराज भान। नालकेर = नारियल। गहिय = लेकर। अपु = स्वयं। षबर = खबर। हेजमहू—फौजदार, सेनापति या द्वारपाल को। नालकेर = नारियल। अवधारी = धारण कीजिये, स्वीकार कीजिये। बंध = बन्धु, भाई। नृष = राजा जयचन्द। वीर = वीरचन्द। कथ = कथा कहानी।

प्रसंग—अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि 'पृथ्वीराज रासो' की रचना अपने मूल रूप में शुक और शुकी के संवादों के रूप में हुई थी। पृथ्वीराज रासो के जो चार रूपान्तर—(१) वृहत् रूपान्तर, (२) मध्यम रूपान्तर, (३) लघु रूपान्तर, (४) लघुतम रूपान्तर—उपलब्ध हैं, उनमें से कुछ में तो यह शुक-शुकी के संवाद-रूप में है और किसी में इस प्रकार के संवादों से रहित है। कुछ विद्वानों का तो मन्तव्य यहाँ तक है कि चन्दवरदाई ने स्वयं अपने को शुक रूप में तथा अपनी पत्नी को शुकी रूप में उपस्थित किया है और इस प्रकार से शुक तथा शुकी अन्य कोई नहीं, वरन् स्वयं कवि तथा उसकी पत्नी हैं। प्रस्तुत प्रसंग में शुकी शुक से शशिवृता के पूर्व जन्म के विषय में पूछती है और साथ-ही-साथ यह भी पूछती है कि शशिवृता का विवाह पृथ्वीराज के साथ किस प्रकार हुआ। शुक शशिवृता की विवाह-विषयक वार्ता को प्रारम्भ करते हुए शुकी को यह वताता है कि किस प्रकार यादवराज भान के द्वारा भेजा गया ब्राह्मण कन्नौज के राजा जयचन्द के पास उसके भाई वीरचन्द के लिये शशिवृता के विवाह के प्रस्ताव को लेकर पहुँचा।

व्याख्या—शुकी शुक से कहती है कि हे शुक ! तुम मुझे बड़े मनोयोग-पूर्वक शशिवृता-रूप में अवतरित उस चित्ररेखा नामक अप्सरा के पूर्वजन्म की कहानी सुनाओ। यह कहानी श्रोतों के लिये अमृत-तुल्य है। साथ-ही-साथ यह भी बताओ कि किस प्रकार राजा पृथ्वीराज ने उससे नियमपूर्वक विवाह किया, चित्ररेखा तथा इन्द्र का क्या प्रसंग था तथा किस प्रकार उस शशिवृता-रूप में अवतरित चित्ररेखा ने अपने मन में यह संकल्प किया कि मैं योगिनीपुर अर्थात् दिल्ली के राजा पृथ्वीराज को ही पतिरूप में स्वीकार करूँगी। तुम यह भी बताओ कि किस प्रकार भगवान् शंकर ने उसकी पृथ्वीराज-विषयक साध पूरी की। उस बाला अर्थात् शुकी के उन संक्षिप्त वचनों को सुसकर शुक ने मन.

में विचार किया कि पूछी गयी इस कहानी को सुनाये विना इसके (शुकी के) हृदय में क्रोध उत्पन्न हो सकता है, अतः यह विचारकर शुक कहने लगा कि एक बार यादवराज भान देवगिरि (देवास) की अपनी सभा में बैठा हुआ था। उस समय उसने ब्राह्मण को नारियल देकर कन्नौजेश्वर जयचन्द के पास भेजा। ब्राह्मण नारियल लेकर जयचन्द के द्वार पर पहुँचा और जाकर उसने द्वारपाल के द्वारा समस्त सूचना अन्दर राजा जयचन्द के पास भेज दी। जब राजा जयचन्द को यह सूचना मिली कि देवगिरि से राजा भान द्वारा भेजा हुआ एक ब्राह्मण उपस्थित हुआ है तो उसने उस ब्राह्मण को अन्दर बुलवा लिया। ब्राह्मण ने नारियल लेकर राजा के समक्ष समुपस्थापित करते हुए कहा कि हे राजन् ! इस नारियल को आप अंगीकार कीजिये। देवगिरि (देवास) के राजा भान के भाई पुंज की शशिवृता नामक पुत्री है, वह उसे आपके भाई वीरचन्द को देना चाहते हैं। विवाह के केवल पाँच दिन शेष हैं। इस कहानी को श्रवण कर गंधर्व दक्षिण दिशा की ओर देवगिरि को चल दिया।

विशेष—(१) जिस प्रकार भारतीय संस्कृत-नाटकों के प्रारम्भ में नांदी-पाठ होता है उसी प्रकार कवि ने यहाँ पर प्रकरण के प्रारम्भ में ही 'ईस पुज्जै सु जग्गी सह' कहकर कुछ आशीर्वादात्मक नान्दी के प्रकार का विधान किया है। वस्तुतः प्रकरण का प्रारम्भ ही नाटकीय ढंग से होता है। नाटक के अनेक तत्त्वों में से संवाद-तत्त्व प्रमुख होता है। प्रस्तुत प्रकरण का प्रारम्भ भी शुक-शुकी के संवाद-रूप में होता है।

(२) पृथ्वीराज तथा जयचन्द की शत्रुता के अनेक कारणों में से एक कारण का लक्षण इस प्रकरण में भी दृष्टिगोचर होते हैं।

टिप्पणी—कुछ टीकाकारों ने 'समह गंध्रवी सुप्रेमहि' का अर्थ किया है कि किस प्रकार राजा पृथ्वीराज ने प्रेमपूर्वक शशिवृता से गंधर्व विवाह किया किन्तु यह अर्थ कुछ अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता।

चल्यौ सु दच्छिन देव गिरि। जहाँ शशिवृत्त कुमारि॥
विपन मद्धि क्रीड़ा करति। समह बाल चितचारि॥३॥

शब्दार्थ—विपन = विपिन, वन, उद्यान। मद्धि = मध्य। समह = साथ।

बाल = बालाएँ, सखियाँ। चितचारि = चित्त में विचरण करने वाली, चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करने वाली।

प्रसंग—गन्धर्व देवगिरि के क्रीड़ा-उपवन में क्रीड़ा में तल्लीन शशिवृता के पास पहुँचता है।

शब्दार्थ—वह गन्धर्व दक्षिण दिशा में अवस्थित उस देवगिरि की ओर चल दिया जहाँ उद्यान में कुमारी शशिवृता अपनी अन्य चित्ताकर्षक सखियों के साथ क्रीड़ा कर रही थी।

॥ कवित ॥

हेय हंस तन धरिय । विपन मद्धे विश्राम लिय ॥
दिष्ष तास शशिव्रत । अतिहि अचरिज्ज मानि जिय ॥
बल कर गहिय सु तत्थ । हत्थ लै करि तिहि पुच्छिय ॥
कवन देव तुम थान । कवन माया तन अच्छिय ॥
उच्चरयौ हंस ससिव्रत सम । मति प्रधान गन्धर्व हम ॥
सुरराज काज आए करन । तीन लोक हम बालगन ॥४॥ २१.४.१५.

शब्दार्थ—हेम = स्वर्ण, स्वर्णिम। दिष्ष = देखकर। अचरिज्ज = आश्चर्य। जिय = हृदय में। तत्थ = वहाँ। तिहि = उससे। पुच्छिय = पूछा। तन अच्छिय = ऐ सुन्दर शरीर वाले। उच्चरयौ = बोला। सम = से। मति प्रधान = बुद्धिमान, विवेकी। सुरराज = इन्द्र। बालगन = हे बालिकावृन्द!

प्रसंग—यहाँ पर गन्धर्व स्वर्णिम हंस बनकर शशिवृता के क्रीड़ोद्यान में जाता है, शशिव्रता उसे पकड़कर उसका परिचय पूछती है और हंस उसे अपना परिचय देता है।

व्याख्या—उस गन्धर्व ने स्वर्णिम हंस का शरीर धारण कर उस उद्यान के मध्य जाकर विश्राम लिया, जहां शशिवृता क्रीड़ा कर रही थी। शशिवृता ने जब उस हंस के स्वर्णिम शरीर को देखा तो उसने अपने हृदय में बड़ा आश्चर्य माना। वहाँ शशिवृता ने बलपूर्वक उस हंस को पकड़कर उससे पूछा—, ऐ सुन्दर शरीरधारी देव! तुम्हारा निवास-स्थान कहां है तथा कौन-सी माया के

बल पर तुमने अपना इतना सुन्दर शरीर बना रखा है? तब गन्धर्व ने शशिवृता से कहा कि हम बुद्धिमान गन्धर्व हैं। ऐ बालिकावृन्द! हम इन्द्र के कार्य को करने के लिए आए हैं। हमारी गति तीनों लोकों में है।

विशेष—उपर्युक्त कवित्त में भाषा का मार्दव द्रष्टव्य है। वस्तुतः कवि की शालीनता तो इसी में है कि वह विषय के अनुकूल भाषा का प्रयोग कर सके। प्रस्तुत प्रसंग में कोमलांगी शशिवृता तथा स्वर्णिम शरीरधारी हंस का मृदुल सम्वाद है, अतः कवि ने कोमल व्यंजनों का विधान किया है।

॥ कवित्त ॥

कहै बाल सुनि हंस। कवन हम पुब्ब जम्म कह ॥
कवन पत्ति हम लहंहि। लैष बिच्चार लहौ इह ॥
तबै हंस उच्चर्‌यौ। सुनहि शशिवृता नारी ॥
चित्तरेष अपछरि। संगीन अति रूप धरारी ॥
तिहि गरब इन्द्र सम कलह करि। क्रीध दैव बंड़ी सुरम् ॥
दच्छिन नरेस नृपतान बंधु। पुंज ग्रहै अवतार तुम ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पुब्ब = पूर्व। जम्म = जन्म। कह = कहो। पत्ति = पति। लैष = भाग्य में लिखित। इह = यहाँ। अपछरि = अप्सरा। चित्तरेष = चित्त-रेखा। संगीन = हमजोलियों में, सखियों में,। धरारी = धारण किया था, पाया था। बड़ी = बड़ा।' सुरम = सुरम्य, सुन्दर। तान = यादवराज भान। ग्रहै = ग्रह, घर।

प्रसंग—जब शशिवृता हंस से अपने पूर्व जन्म के विषय में पूछती है तो हंस उसे बताता है कि वह पूर्व जन्म में अप्सरा थी। इन्द्र से कलह करने के कारण उसे पृथ्वी पर पुंज के यहाँ जन्म लेना पड़ा।

व्याख्या—यह सुनकर बाला शशिवृता हंस से पूछने लगी—'हे हंस! यह बताओ कि हम पूर्व जन्म में क्या थे तथा हमें कौन पति मिलेगा। यह सब मेरे ललाट में लिखित भाग्य चक्र को देखकर तथा सम्यक् विचारकर बताओ।' शशिशृता की यह बात सुनकर हंस कहने लगा—ऐ कुमारी शशिवृता! सुनो।

तुम पूर्व जन्म में चित्ररेखा नाम की अप्सरा थीं। समस्त सखियों में तुम्हें अत्यधिक सौन्दर्य प्राप्त था। इस सौन्दर्याधिक्य के गर्व के कारण तुमने इन्द्र से कलह की। इस पर देवराज इन्द्र ने क्रोध करके तुम्हें बड़ा सुन्दर शाप दिया। उन्होंने शाप देते हुए कहा कि तुम्हें दक्षिण प्रदेश में स्थित देवगिरि के राजा तान (भान) के भाई पुंज के घर जन्म लेना पड़ेगा।

टिप्पणी—(१) शाप को सुन्दर इसलिए बताया गया है क्योंकि जब चित्ररेखा शशिवृता के रूप में पुंज के यहाँ जन्म लेगी तब उसे इन्द्र-तुल्य पराक्रमी पृथ्वीराज जैसा राजा पति-रूप में प्राप्त होगा। इस उक्त पंक्ति में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार देखा जा सकता है।

(२) 'पृथ्वीराज रासो' के कुछ उपलब्ध रूपान्तरों में यह उल्लेख है कि चित्ररेखा को भगवान् शंकर के द्वारा शाप दिया गया था। यहाँ पर तो यह बताया गया है कि चित्ररेखा ने अपने रूपातिशय के कारण इन्द्र से विरोध किया और इस पर इन्द्र ने क्रोधित होकर उसे मृत्यु-लोक में जन्म लेने का शाप दिया, परन्तु अन्यत्र यह बताया गया है कि एक बार भगवान् शंकर इन्द्र के दरबार में पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने इन्द्र से उनकी अप्सराओं का नृत्य देखने की इच्छा व्यक्त की। समस्त सुन्दरी अप्सरायें आकर इन्द्र की सेवा में उपस्थित हुई। सबसे पहले अत्यधिक रूपवती चित्ररेखा का नृत्य प्रारम्भ हुआ। चित्ररेखा ने नृत्य से पूर्व पुष्पांजलि अतिथि-रूप में उपस्थित भगवान् शंकर को न देकर इन्द्र को दे दी। इस पर महादेव क्रुद्ध हो गये और क्रोध के आवेश में चित्ररेखा को मर्त्यलोक में अवतार धारण करने के लिए शाप दिया। तदनन्तर रंभा आदि अप्सराओं ने सुन्दर नृत्य दिखा कर आशुतोष भगवान् शंकर को प्रसन्न किया और उन्हें प्रसन्न करके रम्भा ने अपनी सखी के शाप को अनुग्रह-रूप में परिवर्तित होने की प्रार्थना की। इसके पश्चात् भगवान शंकर ने कहा कि मृत्युलोक में जन्म तो इसे लेना ही पड़ेगा, किन्तु हाँ! इतना अवश्य होगा कि यह देवगिरि के राजा भान के भाई पुञ्ज के यहाँ जन्म लेगी और इसे पृथ्वीराज जैसा पराक्रमी राजा पतिरूप में प्राप्त होगा।

॥ चौपाई ॥

कहै हंस सुनि बाल विचारी । पंग वधुर वीर सु पुत्तारी ॥
तिहि तु दई मातु पितु वंधं । सो तुम जोग नहीं वर कंधं ॥ ६ ।
तेम रहै वर वरष इक्क महि । हय गय अनत झुझ्झिहै समतहि ॥
तिहि चार कवि तुमहि आयौ । करि करुना यह इन्द्र पठायो ॥ ७ ॥
तब उच्चरिय बाल सम तेहं । तुम माता सम पिता सनेहं ॥
मुझ्झ सहाय अवरि कव करिहौ । पानिग्रहन तुम चित अनुहरिहौ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—पंग = पंगुरराय जयचन्द । वधुर = बंधु, भाई । वीर = वीरचन्द वंधं = मँगनी । सो = वह बीर चन्द । जोग = योग्य । वर कंधं = सुन्दर कन्धों वाली । तेम = तैसा, उस प्रकार । वर = दूल्हा । वरष = वर्ष । अनत = अनन्त, अपार, अनेकों । झुझ्झिहै = जूझेंगे, विनाश को प्राप्त होंगे । समतहि = सामन्त । तिहि = वह, यह । चार करि = विचार कर, सोचकर । तुमहि = तुम्हारे पास । सम तेहं = उस (हंस) से । सनेहं = स्नेही । अवरि = अन्य, दूसरा । चित अनुहरिहौ = चित के अनुरूप ।

प्रसंग—शाप की बात बतलाने के पश्चात् हंस शशिवृता को यह बताता है कि तुम्हारे माता-पिता ने 'वीरचन्द के साथ तुम्हारा विवाह तै कर दिया है, किन्तु वह तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम्हारे विवाह के अवसर पर युद्ध होगा।' यह सुनकर शशिवृता अपने मन के अनुरूप वर की प्राप्ति के लिए हंस से प्रार्थना करती है।

व्याख्या—कुमारी शशिवृता से हंस कहने लगा—ऐ कुमारी ! सुनो ! पंगुरराय जयचन्द के भाई वीरचन्द है । तुम्हारे माता-पिता ने तुम्हारी मंगनी उसी से कर दी है, परन्तु ऐ सुन्दर स्कन्धों वाली कुमारी ! वह वीरचन्द तुम्हारे योग्य पति नहीं है । एक वर्ष के अन्दर ही अन्दर ऐसा होगा कि तुम्हारे विवाह के अवसर पर अनेकों हाथी, घोड़े और सामन्त जूझेंगे । युद्ध की बात कहकर हंस शशिवृता का ध्यान पृथ्वीराज की ओर आकृष्ट करना चाहता है और यह बताना चाहता है कि आप चलकर पृथ्वीराज तुम्हारा हरण करेंगे

तथा इसी आधार पर पृथ्वीराज तथा वीरचन्द में भयानक युद्ध होगा, जिसमें असंख्य हाथी, घोड़े और सामन्त काम आयेंगे। आगे हंस कहता है कि यही विचार कर मैं तुम्हारे पास आया हूँ। देवराज इन्द्र ने सुकृपा करके मुझे इसी कारण भेजा है। तत्पश्चात् वह बाला शशिवृता उस हंस से कहने लगी कि तुम यहाँ ही मेरे माता-पिता के समान हितैषी हो। मेरी सहायता अन्य कौन करेगा। मुझे आशा है कि तुम मेरे मन के अनुरूप ही मेरे विवाह का प्रवन्ध करोगे, अर्थात् तुम ही मेरे योग्य वर की खोज करोगे।

विशेष—यहाँ पर कवि की सम्वाद-पटुता द्रष्टव्य है। जब किसी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से काम लेना होता है तो वह किस प्रकार उससे अनुनय-विनय करता है यह बात शशिवृता द्वारा हंस से की गई वार्ता में देखने योग्य है। शशिवृता बड़ी दीन होकर उसे अपने माता-पिता-तुल्य स्नेही बताती है तथा सामान्य जन की भाँति कह बैठती है कि उसके (हंस के) बिना दूसरा कौन उसकी सहायता करेगा।

॥ चौपाई ॥

तब बोल्यो दुजराज विचारं। सुनि ससिवृत्त कत्थ इक सारं ॥
दिल्लीवै चहुआँन महा भर। सौ, तुम जोग चिन्तयौ हम वर ॥ ९ ॥
सत सामंत सूर बलकारी। तिन सम जुद्ध सुदेव विचारी ॥
जिन गहिवौ सरवर गज्जनवै। हय गय मंडि छंडि पुनि हिय वै ॥ १० ॥
गुज्जरवै चालुक्क भीमतर। तै दिन राति ड़रै जंगल धर ॥
वरन जोग तुम ते विचारं। सुनि की सुंदरि हरष अपारं ॥ ११ ॥
तहाँ तुम पिता कृपा करि जाउ। दिल्लीवै अनुराग उपाउ ॥
माँस षटह हों वृत्तह मंडों। तथ्थुना आवै तौ तन छंडौ ॥ १२ ॥
तब उड़ि चल्यौ देह दिस उत्तरि। ढिग ससिव्रत रष्षि निज सुंदरि ॥
जुग्गनि पुर आयो दुजराजं। सोवन देह नगे नग साजं ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—बोल्यो = बोला। द्विजराज, श्रेष्ठ पक्षी अर्थात् हंस। विचारै =

विचार कर, सोचकर। कत्थ = कथा। सारं = सारपूर्ण, तत्वपूर्ण। दिललेवै = दिल्लीश्वर। महा भर = महा भट, महान् योद्धा। चिन्तयौ = विचारा है। बर = वर, दूल्हा, पति। सत = शत, सैंकड़ों। बलकारी = बलवान् पराक्रमी। सम = से। जिन = जिन्होंने। सर = बाण। गज्जनवै = गजनी का अधिपति, अर्थात् मुहम्मद गौरी। मंडि = मण्डित कर दी, पाट दी। छंडि हिय = हृदय को छुड़ा दिया, छक्के छुड़ा दिये। गुज्जरवै = गुजरात का अधिपति भीम। तेह = उस पृथ्वीराज से। सुनि की = सुनकर। हरष = हर्ष। उपाउ = पैदा करो। मांस = मास, महीना। षटह = छः। वृतह = व्रत को। मंडों = धारण करूँगी। तथ्थु = तत्व अर्थात् पृथ्वीराजरूप तत्व की प्राप्ति। छंडों = छोड़ दूँगी। दिस उत्तरि = उत्तर दिशा। रष्षि = रखकर। जुग्गिनीपुर = योगिनीपुर, दिल्ली। सोवन = स्वर्णिम।

प्रसंग—इसके अनन्तर हंस शशिवृता के सामने दिल्लीपति पृथ्वीराज को वरण करने का प्रस्ताव रखता है और साथ ही साथ पृथ्वीराज के बल एवं वैभव का भी बखान करता है। इस पर शशिवृता पृश्वीराज से मिलने के लिए अधीर हो जाती है तथा उसे पति रूप में प्राप्त करने के लिए व्रत धारण करने की प्रतिज्ञा करती है और वह यह दृढ़ निश्चय कर लेती है कि साध पूरी न होने पर अपने शरीर का परित्याग कर देगी। ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा को सुनकर हंस उत्तर की ओर उड़ चलता है।

व्याख्या—इसके पश्चात् सम्यक् सोच-विचार कर पक्षिराज हंस वोला—हे शशिवृते ! तुम एक तत्व की बात सुनो। दिल्ली का चौहानवंशी राजा पृथ्वीराज महावली है, उसी को हमने तुम्हारे योग्य पति का विचार किया है, अर्थात् हम यह चाहते हैं कि तुम्हारा विवाह पृथ्वीराज जैसे पराक्रमी योद्धा से हो। उसके सैंकड़ों सूर्य के समान बलवान् सामन्त हैं। उन सामन्तों को युद्ध में देवताओं के समान समझो। उन सामन्तो ने गजनी के सुल्तान गोरी के विरोध में अपने बाणों को ग्रहण किया। कहने का तात्पर्य यह है कि उन बलशाली सामन्तों ने गोरी जैसे श्रेष्ठ वीर का सामना किया और उस युद्ध में उन्होंने पृथ्वीराज को हाथी, घोड़ों से पाट दिया तथा विपक्षी शत्रुओं के छक्के छुड़ा

दिये। गुर्जर प्रदेश का स्वामी चालुक्यवंशी भीम उनसे दिन-रात डरता रहता है और इसी भय के कारण वह दुर्ग में न रहकर, जंगलों में ही निवास करता है। ऐसे पराक्रमशाली पृथ्वीराज को ही हमने तुमसे वरण करने के योग्य समझा है। यह सुनकर सुन्दरी शशिवृता को अतीव हर्ष हुआ और वह हंस से विनयपूर्वक कहने लगी—ऐ पितातुल्य ! तुम कृपा करके वहाँ दिल्ली में जाओ और किसी प्रकार दिल्लीश्वर में मेरे प्रति अनुराग उत्पन्न करो। मैं छः मास पर्यन्त, व्रत धारण करूँगी और फिर भी यदि इस व्रत के फलस्वरूप पृथ्वीराज-रूप-तत्व की प्राप्ति न हुई तो अपने प्राणों का विसर्जन कर दूँगी। कुमारी की यह कठिन प्रतिज्ञा सुनकर वह हंस उत्तर दिशा की ओर उड़कर चल दिया तथा अपनी सुन्दरी पत्नी को शशिवृता के पास रख दिया, जिससे वह शशिवृता की देख-रेख कर सके और उसे धैर्य बंधा सके। स्वयं हंस दिल्ली आया। उसका स्वर्णिम शरीर था तथा उसका वह शरीर नगों की भांति सुशोभित था।

विशेष—प्रस्तुत प्रसंग में कवि ने हंस के मुख से पृथ्वीराज तथा उसके सामन्तों के पराक्रम का भव्य चित्र उपस्थित किया है। यद्यपि उस समय गुर्जर प्रदेश की अधिकांश जनता जंगलों में रहती थी, तथापि कवि की यह उद्भावना, कि पृथ्वीराज के भय से ही वे लोग नगरों में न रहकर जंगलों में रहते हैं, बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है।

॥ कवित्त ॥

वय किसोर प्रथिराज। रम्य हा रम्य प्रकारं ॥
सेत पष्य दिय चन्द। कलाँ उद्दि तन मारं ॥
विपत्त मध्य चहुआँन। हंस दिष्यौ अप अष्षिय ॥
चरन भग्ग दुति होत। मेह पट्छी विष लष्षिय ॥
आचिज्ज देषि प्रथिराज बर। धाई अपति बर कर गहिय ॥
आपुव्व दुज्ज गति दूत कथ। रहसि राज सों सब कहिंय ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—वय किसोर = किशोरावस्था। प्रथिराज = पृथ्वीराज। रम्य हा रम्य = अतीव सुन्दर। सेत = श्वेत, शुक्ल। पष्य = पक्ष, पखवाड़ा। विय = इव, तरह। उद्दित = उदित हो रही थी। मार—कामदेव की। विपन =

विपिन, वन । दिष्यौ = देखा । अप = अपनी: अष्षिय = आँखों से । दुति = द्युति, कान्ति । मेह = मेरु, सुमेरु यहाँ पर स्वर्णिम से तात्पर्य हैं । पछ्छी = पक्षी । लष्षिय = दिखाई देता था । आचिज्ज = आश्चर्य । धाइ = दौड़कर । अपति = राजा । आपुब्ब = अपनी । दुज्ज गति = पक्षी होने की दशा । कथ = कहो । रहसि = एकान्त में ।

प्रसंग—हंस उड़कर पृथ्वीराज के पास पहुँचता हैं तथा पृथ्वीराज के सुन्दर शरीर को देखता है, पृथ्वीराज उसे पकड़ लेता है और समस्त कहानी पूछता है ।

व्याख्या—हंस ने जाकर देखा कि पृथ्वीराज किशोरावस्था में वर्तमान है । उसका समस्त शरीर अतीव सुन्दर है । वह शुक्ल पक्ष के पूर्ण चन्द्रमा की भाँति शोभायमान है । उसके शरीर से कामदेव की कलाएँ उदित हो रही हैं, अर्थात् उसके शरीर पर कामदेव जैसी अलौकिक कान्ति है । इसके पश्चात् चौहान राजा पृथ्वीराज ने वन के मध्य उस हंस को अपने नेत्रों से देखा । भागने पर उस हंस के पैरों में एक अद्‌भुत दीप्ति आ जाती थी । वह सुमेरु-पक्षी के सदृश भासित होता था, अर्थात् ऐसा प्रतीत होता था जैसे उसका शरीर सुमेरु पर्वत से बनाया गया है । कहने का तात्पर्य यह कि उस हंस का शरीर विशुद्ध स्वर्ण से निर्मित जान पड़ता था । ऐसा आश्चर्य देखकर पृथ्वीराज ने दौड़कर उस पक्षी को अपने हाथों से पकड़ लिया और तत्पश्चात् उससे कहने लगा—हे दूत ! यह बताओ कि तुमने अपने इस पक्षी के शरीर को क्यों धारण किया हैं । उस दूत हंस ने एकान्त में ले जाकर राजा को सब कहानी कह सुनायी ।

विशेष—'सेत पष्य विय चन्द' तथा 'मेह पछ्छी विय लष्षिय' में कवि ने उपमा अलंकार का सुन्दर विधान किया है । यहाँ पर इस अलंकार में भावों की मृदुता दर्शनीय है ।

टिप्पणी—एक लोकोक्ति है "जैसी हो भवितव्यता तैसी मिलै सहाइ ।" यह लोकोक्ति यहाँ पूर्णतः चरितार्थ होती है । पृथ्वीराज तथा जयचन्द की शत्रुता में वृद्धि होनी थी, इसीलिए वह स्वर्णिम हंस पृथ्वीराज के पास

आया, अन्यथा भला कहीं स्वर्णिम हंस की भी उत्पत्ति सम्भव है ? यदि उस हंस का शरीर साधारण हंसों की भाँति होता तो कदाचित् पृथ्वीराज उसे न पकड़ता और इस प्रकार राजाओं के बीच में शत्रुता के कारणों में से कम से कम एक कारण का मार्ग निस्संदेह रुक जाता। किन्तु जो होना होता है वह होकर ही रहता है, भाग्य के समक्ष अपना कोई वश नहीं चलता। कहा भी है—

"राम न जाते हरिण संग सीय न रावण साथ।
तुलसी जो भवियव्यता होति आपने हाथ।।"

जब विपत्ति का समय आता है तो बुद्धिमान् पुरुषों की भी बुद्धि मलिन हो जाती है—

"असम्भवं हेममृगस्य जन्म,
तथापि रामो लुलुभे मृगाय।
प्रायः समापन्न विपत्ति काले,
धियोऽपि पुंसां मलिनी भवन्ति ॥"

अर्थात् स्वर्णिम मृग का जन्म असम्भव है, तो भी भगवान् राम उस स्वर्णिम मृग को पाने के लिए लालायित हो गये। (सच ही तो है कि) विपत्ति काल आने पर प्रायः बुद्धिमान पुरुषों की भी बुद्धियाँ मलिन हो जाती हैं।

यदि वह स्वर्णिम मृग आकर उपस्थित न हुआ होता तो सम्भव था कि पृथ्वीराज तथा जयचन्द का वैमनस्य अधिक न बढ़ा होता और इस प्रकार देश मुसलमानों के हाथों में ज़ाने से बच जाता। किन्तु भवितव्यता प्रबल है।

॥ दूहा ॥

विप मध्य आचिज्ज इह। दिष्षि राज पृथिराज ॥
धूत दूत कलधौत तन। हंस सरूप विराज ॥ १५ ॥
संझ सपत्तो अपति पै। दूत सु जद्दव राइ ॥
वर कग्गद नृप हथ्थ दै। कहि श्रोतान बधाइ ॥ १६ ॥
राका अरु सूरज्ज बिच। उदे अस्त दुहु बैर ॥

बर शशिवृत्ता सोभई। मनों श्रृंगार सुमेर ॥ १७ ॥
इन वै इन रूपह तरुनि। इन गुन आवै मान ॥
सो बर-बर कविचन्द कहि। सुनहु तो कहूं प्रमान ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—धूत = धौत, धोया हुआ। कलधौत = स्वर्ण, किन्तु यहाँ पर स्वर्णिम से तात्पर्य है। सरूप = स्वरूप। बिराज = सुशोभित था। संझ = साँझ, सन्ध्याकाल। सपत्तो = प्राप्त हुआ, पहुँचा। जद्दव राइ = यादवराज। कग्गद = पत्र। हत्थ = हाथ। कहि = कहते हुए, शशिवृता की प्रसंसा करते हुए। श्रोतान = श्रोतानुराग। वधाइ = वृद्धि की। राका = रात्रि, किन्तु यहाँ पर इसका लाक्षणिक अर्थ राकेश (चन्द्रमा) है। सूरिज्ज = सूर्य। बिच = बीच, मध्य। दुहु = दोनों। सुमेर = सुमेरु पर्वत। इन = ऐसे। वै = वय, अवस्था, आयु। आवै मान = मानने में आ सकता है, अनुमान लगाया जा सकता है। बर-बर = बार-बार। प्रमान = सप्रमाण, प्रमाण देकर, दृष्टान्त देकर।

प्रसंग—संध्या के समय हंस पृथ्वीराज के पास पहुँचता है तथा पत्री को राजा के लिए भेंट कर और शशिवृता के रूप की प्रसंसा कर पृथ्वीराज में शशिवृता के प्रति श्रोतानुराग उत्पन्न करता है।

व्याख्या—राजा पृथ्वीराज ने वन के मध्य एक आश्चर्य देखा। उसने देखा कि वहाँ पर एक सुन्दर हंस सुशोभित है, जिसका शरीर मानो स्वर्ण से निर्मित किया गया है। जब संध्याकाल हुआ तब देवगिरि के यादवराज द्वारा भेजा गया दूत राजा पृथ्वीराज के पास आकर उपस्थित हुआ। सर्वप्रथम उसने राजा के हाथ में पत्र समर्पित किया। तदनन्तर शशिवृता के अनुपम सौन्दर्य की प्रशंसा कर राजा में शशिवृता-विषयक श्रोतानुराग में वृद्धि की। हंस शशिवृता की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि भूमण्डल के जितने भाग पर चन्द्र एवं सूर्य क्रमशः उदित और अस्त होते हैं, उतने भाग पर श्रृंगार धारण किये हुए कुमारी शशिवृता सुमेरु पर्वत के सदृश शोभा पाती है; अर्थात् स्वर्ण की सी कान्ति वाले शरीर वाली वह बाला अखिल विश्व में सुन्दरतम है। कवि चन्द का कथन हैं कि वह दूत पृथ्वीराज से कहता है कि हे राजन्! उस सुन्दरी की वय तथा उसके गुणों का कुछ इस प्रकार (उपर्युक्त प्रकार) से अनुमान लगाया

जा सकता है। यदि आप उसके सौन्दर्य के विषय के सुनना चाहें तो मैं दृष्टान्त तथा प्रमाण देकर उसके विषय में आपको बताऊँ।

विशेष—सत्रहवें दूहे का अपेक्षाकृत कुछ अधिक साहित्यिक एवं सुन्दर अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—भूमण्डल पर चन्द्र तथा सूर्य उदय और अस्त होते हैं, इन दोनों के मध्य में जिस प्रकार सुमेरु पर्वत सुशोभित है, उसी प्रकार वह शशिवृता सुमेरु (माला के बीच की अक्षत माणी) के समान सुशोभित है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार माला फेरने वाला व्यक्ति मेरु गुरिआ तक जाकर फिर पीछे को लौट पड़ता है, उसका उल्लंघन नहीं करता, ठीक उसी प्रकार चन्द्र एवं सूर्य भी उस तक जाकर लौट आते हैं किन्तु उसका स्पर्श प्राप्त नहीं कर सकते। कहने का आशय यह है कि वह बाला चन्द्रमा तथा सूर्य से भी अस्पृष्ट है, अन्य साधारण व्यक्तियों द्वारा उसके स्पर्श प्राप्त करने की तो वार्ता चलाना ही व्यर्थ है।

सत्रहवें दूहे में ही कवि ने शशिवृता में सुमेरु पर्वत का आरोप कर उत्प्रेक्षा अलंकार की संयोजना की है।

॥ त्रोटक ॥

वय संधिरु बाल प्रभान ब्रनं। कहि त्रोटक छन्द प्रमान सुनं॥
वय स्याँम रु शैशव अंकुरबं। अह अंत निसागम संकरयं ॥१९॥
जल सैसव मुद्ध समान भयं। रबि बाल बहिक्रम अत्थमियं॥
वर सैसब जोवन संधि अती। सु मिलें जनु पित्तह बाल जती ॥२०॥
जु रही लगि सैसब जुब्बनता। सुमनों ससिरं तनें राज हिता॥
जु चलै मुरि मारुत झंकुरिता। सु मनों मुरवैस मुरी मुरिता ॥२१॥
कलकंठ कंठय पंष अली। गुन जंपि कवित्त सु चन्द बली ॥२२॥

शब्दार्थ—वय संधिरु = वयःसन्धि। ब्रनं = वर्णन करता हूँ। सुनं = सुनिये स्याँम = सन्धि। शैशव = बालपन। अंकुरय = अंकुरित होता है। अह = दिवस दिन। निसागम = रात्रि का आगम। संकरयं = सन्धिकाल। मुद्ध = मुग्धा। रबि बाल = कच्चा सूर्य, प्रातःकालीन सूर्य। अत्थमियं = अस्तमित। पित्तह = क्षिप्त, मत्त व्यक्ति। जती = यती। जुब्बनता = यौवनत्व ससिरं = 'शिशिर

ऋतु। राज हिता = राजाओं का हित करने वाली, राजाओं को प्रसन्न करने वाली वसन्त ऋतु। मारुत = वायु, पवन। झंकुरिता = झकझोर देने वाली, काम-वासना को प्रदीप्त करने वाली। मुरवैस = युवावस्था। मुरी = मूली लता। कलकंठ = सुन्दर कण्ठ से।। कंठय = गाती थी। पंष = पंख। अली = भ्रमर। जंपि = वर्णन करता है।

प्रसंग—जब शशिवृता का शैशव समाप्त होता है और उस पर युवावस्था आनी प्रारम्भ हो जाती है, उस संधिकाल का वर्णन दूत उत्प्रेक्षादि अलंकारों का आश्रय लेकर बड़े मनोयोग से करता है।

व्याख्या—दूत कहता है—हे राजन् ! अब मैं त्रोटक छन्द का अवलम्बन लेकर उस बाला की वयःसन्धि का वर्णन करता हूँ। शैशवावस्था अतीत हो जाने पर उसकी युवावस्था इस प्रकार अंकुरित हो रही है, जिस प्रकार दिवस के अवसान तथा निशागम का सन्धिकाल होता है। उसकी शैशवावस्था जल के बुदबुद के समान लुप्त हो गई है और अब वह समान भय एवं लज्जा की भावना से युक्त मुग्धा हो गयी है। (कहा जाता है कि जब तक कन्या अपने शैशव में वर्तमान रहती है, तब तक वह अपने समस्त समवयस्कों के साथ हँसती तथा खेलती है, किन्तु जब उस पर युवावस्था का आगम प्रारम्भ हो जाता है, तब उसमें भय तथा लज्जा की भावना बढ़ने लगती है। वह अपने समवयस्कों के साथ पूर्व की भाँति निःसंकोच भाव से नहीं मिल सकती और इस प्रकार वह मुग्धा नायिका की कोटि में आती है)। जिस प्रकार बाल-सूर्य रक्त-वर्ण होकर उदित होता है, किन्तु वह लालिमा उसकी क्षण-भर की होती है तथा कुछ काल के उपरान्त वह अरुणिमा अस्त हो जाती है, उसी प्रकार शशिवृता अब अपने शैशव को समाप्त कर युवावस्था में प्रवेश कर रही है। शशिवृता में शैशव यौवन से इस प्रकार मिल रहा है जैसे मानो वह (यौवन) क्षिप्त बाल यती हो, अर्थात् जिस प्रकार बाल यती में एक नवीन उत्साह होता है, उसी प्रकार शशिवृता में नवीन उन्माद का उदय हो रहा है। शशिवृता में जो शैशव था, वही मानों शिशिर ऋतु थी, किन्तु अब उसमें यौवनत्व राजाओं को अपनी ओर आकृष्ट करने वाले वसन्त ऋतु-सा उद्भासित हो रहा है

कामवासना को उद्दीत करने वाली वायु, युवाकाल में अवस्थित उस कुमारी की शरीर-लतिका को झकझोर देती है। तात्पर्य यह है कि वसन्त ऋतु का पवन उसके शरीर का स्पर्श कर उसमें काम-भावनाओं को जाग्रत कर देता है। जिस प्रकार भ्रमर के उड़ने से उसके पंखों से मधुर ध्वनि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार वह वाला अपने सुन्दर कंठ से गीत गाती है। कवि चन्द कविता का आलम्बन लेकर उसके गुणों का वर्णन करता है।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा द्रष्टव्य है।

॥ कवित्त ॥

ससिर अंत आवन वसंत। वालह सैसव गम ॥
अलिन पंष कोकिल सुकंठ। सजि गुंड मिलत भ्रम ॥
मुर मारुत मुरे चलै। मुरे मुरि वैस प्रमानं ॥
तुछ कोपर सिस फुट्टि। आन किस्सोर रंगानं ॥
लीनी न अंमिनक स्याम तन। मधुर मधुर धुनि करिय ॥
जानी न वयन आवन बसत। अभ्यता जीवन अरिय ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—गम = गमन कर गया, चला गया। बालह = बाला (शशिवृता) का। गुंड = चूर्ण, पुष्प राग। भ्रम = भ्रम में डाल देती है। मुर मारुत = वायु के मुड़ने (झोंके) से। मुरे = नमने लगी। तुछ = उसके। कोंपर = कोंपल। सिस = शीश, शिर, ऊपर। फुट्टि = फूटने लगी, निकलने लगी। आन = आकार। किस्सौर = किशोरावस्था। रंगानं = रंग लाने लगी। अंमि = अमिय, अमृत। नक श्यांम = नक्र श्याम (स्वामी), मकरध्वज, कामदेव। वयन = वय, अवस्था। बसत = वसन्त।

प्रसंग—कवि दूत के माध्यम से शशिवृता के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करता है। शैशव व्यतीत हो जाने पर उस कुमारी की किशोरावस्था के आगम की तुलना कवि उस वसन्त ऋतु से करता है जो शिशिर ऋतु के उपरान्त आती है।

व्याख्या—जिस प्रकार वसन्त ऋतु के आगमन पर शिशिर ऋतु पर्यवसान को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार बाला शशिवृता का शैशव समाप्त हो गया

और वह किशोरावस्था में पदार्पण करने लगी। वसन्त ऋतु में जिस प्रकार भ्रमर अपने पंखों से सुमधुर गुंजार करते हैं, उसी प्रकार वह कोकिल कण्ठी मृदु स्वर से गान करने लगी। जव वह पुष्प-पराग का अवलेपन अपने शरीर पर करती है तो लोग उसके उस सौन्दर्यातिशय को देखकर भ्रमित हो जाते हैं जव कुमारी का वालपन समाप्त हो गया तथा जब उसमें प्रौढ़ता प्रवेश करने लगी तो वह शशिवृता लचीली लता के समान किशोर वय की हवा के झोंके से लचने लगी तथा उस लता पर कोंपलें फूटने लगी, अर्थात् किशोरावस्था के साथ उस कुमारी में लज्जा तथा भय ने भी अपना स्थान वनाया और उसमें नवीन-नवीन कोमल भावनाओं की सृष्टि होने लगी। किशोरावस्था ने आकर उस पर अपना रंग जमाना प्रारम्भ कर दिया। कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार कोंपलों पर रमणीय रंग दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार किशोर वय के आने से शशिवृता का शरीर भी खिल उठा। उसके शरीर की सुगन्धि से आकृष्ट होकर भ्रमर उसके चारो ओर मधुर-मधुर गुंजार करने लगे, किन्तु वे उसके अमृत (अधर-रस) का पान करने का साहस नहीं कर पा रहे थे; क्योंकि वे जानते थे कि शशिवृता के शरीर में कामदेव ने अपना घर बना लिया है। कवि-परम्परा से यह प्रचलित है कि कामदेव पुष्पधन्वा है और उसके धनुष की प्रत्यञ्चा भ्रमरों से बनी हुई है। भ्रमरों को यह डर था कि यदि शशिवृता के अधरों के रस का पान करेंगे तो कामदेव तो पहले से ही इसके अन्दर बैठा है, वह कहीं हमें पकड़कर अपने धनुष की पुरानी प्रत्यंचा उतारकर, हमारे द्वारा नयी प्रत्यंचा न बना ले। ऋतुराज के समान ही युवावस्था ने शशिवृता में प्रवेश किया, किन्तु उस वाला को अपने जीवन का यथार्थ ज्ञान न हो सका।

विशेष—यहाँ पर कवि ने सांगरूपक अलंकार की योजना की है। जिस प्रकार बसन्त ऋतु के आने पर भ्रमर गुंजार करने लगते हैं, पुष्प विकसित होकर निखिल विश्व को परिमल में मग्न कर देते हैं, शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर प्रवाहित होने लगता है, नवीन कोंपलें फूटने लगती हैं तथा कामदेव अपनी माया का प्रसार करने लगता है, उसी प्रकार शशिवृता का शैशव पलायन कर गया और बसन्त-रूपी किशोरावस्था आ गयी, पुष्पों के सदृश उसके

शरीर से भी परिमल विकीर्ण होने लगा, वायु से लता के समान वह भी अपनी वय से नमित होने लगी, कोंपलों के सदृश उसका रंग भी निरखने लगा तथा पुष्प के सदृश उस पर भ्रमर गुंजार करने लगे और कामदेव ने भी उसके हृदय में अपना निवास बना लिया। इस प्रकार प्रस्तुत कवित्त में सांगरूपक अलंकार है, किन्तु उसका निर्वाह सुचारु रूप से नहीं हो सका है।

कवित्त की अन्तिम पंक्ति से यदि 'जीवन' के स्थान पर 'जोवन' पाठ होता तो अधिक अच्छा था और तव अन्तिम पद का अर्थ होता कि यद्यपि वसन्त की भाँति युवावस्था ने उसके शरीर में प्रवेश पा लिया तथापि वह अज्ञातयौवना ही बनी रही। अज्ञातयौवना वह नायिका होती है जिसकी कटि क्षीण होने लगती है, उरोजों पर उभार आने लगता है तथा नितम्ब भारी होने लग जाते हैं; किन्तु वह नायिका इस परिवर्तन को बहुत ही आश्चर्यचकित होकर देखती है। उसे यह ज्ञान नहीं होता कि यह सब परिवर्तन क्यों हो रहा है।

॥ कवित्त ॥

1979

पत्त-पुरातन झरिग। पत्त अंकुरिय उट्ठ तुछ॥
ज्यों सैसव उत्तरिय। चढ़िय बैसब किसोर कुछ॥
शीतल मंद सुगंध। आइ रितिराज अचानं॥
रोमराइ अंग कुच नितंब। तुच्छं सरमानं॥
बढ़्ढैं नं सीत कटि छीन ह्वै। लज्ज मानं ढंकति फिरै॥
ढंकं न पत्त ढंकै कहै। बन बसंत मंत जु करै॥२४॥

शब्दार्थ—पत्त = पत्ते, पत्र, दूसरा अर्थ लज्जा। पुरातन = पुराने। झरिग = झड़कर। अंकुरिय उट्ठ = अंकुरित हो उठते हैं। तुछ = तुच्छ, छोटे-छोटे। उत्तरिय = उतर गया, चला गया। बैसव = वय, अवस्था। रितिराज = ऋतुराज। अचानं = अचानक, सहसा, अकस्मात्। रोमराइ = रोमराजी, रोंगटों की पंक्ति। तुच्छं = थोड़े-थोड़े। सरसानं = सरसता आने लगी। बढ़्ढै = बढ़ता है। कटि = कमर। छीन = क्षीण। लज्ज मनं = लाजवन्ती पौधे के समान। ढंकति फिरै = ढकती फिरती है, संकुचित होती है। ढंके न = नहीं ढकती, नहीं छिपाती, संकोच नहीं करती। न पत्त = अपत, पत्रों से विहीन। ढंकै = ढाक,

पलाश। मंत जु करै = मत पर चलती है, अनुसरण करती है। कहै = कही जाती है।

प्रसंग—यहाँ पर कवि शशिवृता की वसन्त से तुलना करता हुआ उसे एक अज्ञातयौवना नायिका के रूप में चित्रित करता है।

व्याख्या—जिस प्रकार वसन्त ऋतु में वृक्षों से पत्ते झड़ जाते हैं और छोटे-छोटे नवीन पत्ते निकलने लगते हैं, उसी प्रकार शशिवृता का शैशव उतर गया और कुछ-कुछ युवावस्था चढ़ने लगी। जिस प्रकार ऋतुराज वसन्त के सहसा आगमन पर शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन प्रवाहित होने लगता है, उसी प्रकार शशिवृता के शरीर में रोमराजि, उरोज और नितम्बों में कुछ-कुछ सरसता आने लगी। जिस प्रकार बसन्त आने पर शीत में वृद्धि नहीं होती प्रत्युत् अवनति होने लगती है, उसी प्रकार शशिवृता की कटि क्षीण होने लगी जिस प्रकार लाजवन्ती का पौधा छू देने पर वह सिकुड़ने लगता है, उसी प्रकार शशिवृता में संकोच की मात्रा में वृद्धि होने लगी। जिस प्रकार वसन्त ऋतु में पलाश का वृक्ष पत्रविहीन हो जाता है, उसी प्रकार कभी-कभी वह भी अपने शरीरावयवों को नहीं ढकती। इस प्रकार वह वसन्तकालीन वनस्थली का अनुगमन करती है।

विशेष—उपमा अलंकार के प्रयोग से कवि को भावों के स्पष्टीकरण में सहायता मिली है।

टिप्पणी—कवित्त के अन्तिम चरण में जो 'न' शब्द आया है, वह दोनों ओर लगेगा; अर्थात् करते समय उसे 'ढंकै' के साथ भी लेना पड़ेगा और 'पत्त' के भी पहले लेना पड़ेगा।

॥ दूहा ॥

श्रवनन भव श्रोतान श्रप। मन बंछै चहुआंन ॥
मनु ससिवृत कुआंरि कौ। पर्‌यौ उरद्धर बान ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—भव = हो गया। श्रोतान = श्रोतानुराग। बंछै = चाहने लगा। उरद्धर = उरस्थर, हृदय में।

प्रसंग—शशिवृता के सौंदर्य का वर्णन सुनकर राजा पृथ्वीराज को श्रोतानुराग हो जाता है और वह हृदय से उसे चाहने लगता है।

व्याख्या—हंस द्वारा शशिवृता के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर राजा पृथ्वीराज को श्रोतानुराग हो गया और वह उसे मन से चाहने लगा। कुमारी शशिवृता की सौन्दर्यातिशयता को सुनकर राजा के हृदय में कामदेव का वाण लग गया।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

॥ कवित्त ॥

निसि नरिंद चहुआंन। चित्त मनोरत्थ विचारै॥
भई दीह सब निश्रा। निशा सयनंतर धारै॥
सयनंतर ससिवृत्त। चाटु चटु बैन उचारे॥
चारु चारु बर बयन। मान मानिनि संभारे॥
दैवान मनोरथ चित्त वर। भव भव छन्नन कह करै॥
भौ प्रात दूत पुच्छै अपति। जद्दोवै चितै धरै॥ २६॥

शब्दार्थ—नरिंद = नरेन्द्र, राजा। मनोरत्थ = मनोरथ, अभिलाषा। दीह = दिवस। सयनंतर = शयन में। चाटु चटु बैन = चाटुकारिता के वचन जैसा कि प्रायः प्रेमीजन अपनी प्रेयषियों से बोला करते हैं। मान = तुल्य, तरह। मानिनि = मानवती। संभारै = सुने। दैवान = दैविक, देवताओं के समान। भवछन्नन = सांसारिक बन्धन। कह = क्या। जद्दोवै = यादव राजकुमारी शशिवृता।

प्रसंग—शशिवृता के विषय में सुनकर पृथ्वीराज को श्रोतानुराग उत्पन्न हो जाता है। रात्रि में शयनागार में भी वह शशिवृता को ही देखता है। उसके हृदय में शशिवृता को प्राप्त करने की इच्छा वलवती हो जाती है और वह हंस से वार-बार शशिवृता के विषय में ही पूछता है।

व्याख्या—रात्रि के मध्य चौहान राजा पृथ्वीराज अपने हृदय में अनेक प्रकार की अभिलाषाओं की सृष्टि कर रहा है। उस मधुर कल्पना-सागर में मग्न रहते हुए ही उसकी रात्रि व्यतीत हो जाती है। रात्रि उसे दिवस-तुल्य हो गयी हैं, क्योंकि शशिवृता का विचार किसी क्षण भी उसके हृदय से नहीं उतरता। वह प्रत्येक क्षण उसी के विषय में चिन्तन किया करता है। रात्रि

के समय जब वह शयनागार में जाता है तब शयन करने पर स्वप्न में भी शशिवृता उसके पास आती है और वह उससे अनेक प्रकार के चाटुकारितापूर्ण वचन कहता है, किन्तु शशिवृता के जो सुन्दर वचन हैं वे राजा को मानिनी के मानवाक्यों के समान सुनाई पड़ते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा स्वप्न में यह देखता है कि शशिवृता उसके पास आई हुई है और उसे मान करता हुआ देखकर पृथ्वीराज अनेक प्रकार की चाटुकारिता से परिपूर्ण शब्दों से उसे प्रसन्न करना चाहता है, किन्तु शशिवृता एक मानिनी नायिका के तुल्य है, जो मान किये बैठी है और जब मानवती नायिका मान करती है तो उसके मुख से बड़े नपे-तुले शब्द निकलते हैं। इसी प्रकार शशिवृता भी अपने मान के कारण पृथ्वीराज को नपे-तुले शब्दों में ही उत्तर देती है। इतना सब होने पर भी श्रेष्ठ व्यक्तियों की अभिलाषाएँ देवतुल्य होती हैं। विश्व के सांसारिक बन्धन उनका कुछ नहीं कर सकते। कवि का आशय यह है कि राजा पृथ्वीराज एक महापुरुष है। उसकी अभिलाषाओं में ठीक उसी प्रकार कोई व्याघात नहीं पहुँच सकता, जिस प्रकार देवताओं के मनोरथों में कोई विघ्न नहीं आ सकता। देवता स्वर्गलोकवासी होते हैं, अतः सांसारिक बन्धनों की उन तक गन्ध भी नहीं पहुँचती। ठीक इसी प्रकार जब एक व्यक्ति के मनोरथ देवतुल्य हैं तो सांसारिक बन्धन उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। पृथ्वीराज की अभिलाषाएँ देवाभिलाषाओं के तुल्य होने से पूर्ण होंगी ही, करवटें बदलते हुए राजा ने किसी प्रकार रात्रि व्यतीत की और प्रातः काल होने पर राजा पुनः दूत से शशिवृता के विषय में पूछने लगा। शशिवृता हो उसके हृदय में समायी हुई थी। वस्तुतः सत्य भी यही है कि जिस समय एक व्यक्ति किसी स्त्री से प्रेम करने लग जाता है, तो उसके बिना उसे और कोई दिखायी ही नहीं पड़ता। ठीक ही तो है—'अन्धा है प्रेम मत्त प्रेमी, प्रिय की मतवाली छाया है,' और वह छाया भूत बनकर प्रत्येक क्षण उस पर छायी रहती है तथा प्रेमी उसी में आनन्दातिरेक की अनुभूति करता है।

विशेष—कवि ने प्रेमी की दशा का बड़ा ही भव्य चित्र प्रस्तुत किया है। 'सयनंतर' के स्थान पर यदि 'सपनंतर' पाठ होता, जैसा कि 'पृथ्वीराजरासो' की कुछ अन्य प्रतियों में पाया जाता है, तो अच्छा होता।

॥ दूहा ॥

वर वंध्यो ससिवृत्त को। अरु अप भान कुंआर ॥
वे ही दिन कमधज्ज कै। नाम बीरवर भार ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—बर बंध्यौ = मँगनी कर दी। वे ही दिन = उन्हीं दिनों। बीर = वीरचन्द। भार = भट, योद्धा।

प्रसंग—जिन दिनों हंस पृथ्वीराज के पास आया, उन्हीं दिनों राजा भान ने शशिवृता की मँगनी वीरचन्द से कर दी थी।

व्याख्या—जिन दिनों पृथ्वीराज तथा हंस का यह प्रसंग चल रहा था, उन्हीं दिनों देवगिरि (देवास) के राजा भान ने कुमारी शशिवृता का विवाह श्रेष्ठ कमधज वीर वीरचन्द से पक्का कर दिया था।

॥ कवित्त ॥

चित्र रेष वाला विचित्र। चंदी चन्द्रानन।।
स्वर्ग मग्ग उत्तरी। चित पुत्तरि परमानन ॥
काम वाम सुंजुरी। वाल अंजुरी सु लच्छिय।।
मार कलह उत्तरी। पुव्व अच्छरी सुलच्छिय।।
लछिन बत्तीस लच्छी सहज। रतिपति चित्त समंधरे ॥
संग्रहै वृत्त चहुआंन को। गवरि पुज्ज दिनप्रति करै ॥२८॥

शब्दार्थ—चंद्री = चन्द्रमा की कान्ति के तुल्य कान्ति वाली। चन्द्रानन = चन्द्र के समान सुन्दर मुख वाली। मग्ग = मार्ग। उत्तरी = उतरी। चित पुत्तरि = चित्र-पुत्तलिका। परमानन = प्रमाण, समान। बान सुंजुरी = साधे हुए वाण की भाँति। अं = वह या ऐसी। जुरी सु लच्छिय = शुभ लक्षणों का समूह। मार = कामदेव। कलह = कला। पुव्व = पूर्व, पहले। अच्छरी = अप्सरा। अच्छिय = सुन्दर। लछिन = लक्षण। लच्छी = लक्ष्मी। रतिपति = पति विषयक प्रीति। समंधरै = भली प्रकार धारण करती है। संग्रहै वृत्त = व्रत का आचरण करती है। गवरि = गौरी। पुज्ज = पूजा।

प्रसंग—प्रस्तुत कवित्त में शशिवृता के सौन्दर्य, गुणों एवं प्रतिज्ञा का सुन्दर वर्णन किया गया है। सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उसे चन्द्रानना, चित्र-

पुत्तलिका, कामवाण, शुभ लक्षणों का आगार, कामकला तथा अप्सरा बताया गया है। उसे अनेक लक्षणों से युक्त तथा पति-विषयक प्रेम से परिपूर्ण कहा गया है।

व्याख्या—हंस पृथ्वीराज से शशिवृता की अलौकिक सुन्दरता का वर्णन करते हुए नहीं अघाता। वह कहता है—वह शशिवृता, जिसके शरीर की कान्ति चन्द्र-तुल्य है तथा जिसका मुख पूर्ण चन्द्र के सदृश आपातरमणीय है, अनुपम सुन्दरी अप्सरा चित्ररेखा का अवतार है। चित्र की पुत्तलिका के समान वह सुन्दर बाला स्वर्ग-मार्ग से उतरकर इस मृत्युलोक में आयी है। कामदेव के साधे हुए बाण के समान वह बाला सुन्दर लक्षणों का भण्डार है। वह शशिवृता को कामदेव का बाण बतलाकर कवि को उसकी अलौकिक सुन्दरता का वर्णन ही अभिप्रेत है। वह राजकुमारी मानो कामदेव की कला का ही अवतार है। वह पूर्व जन्म में नितान्त सुन्दर लक्षणों वाली अप्सरा थी। वह बत्तीस लक्षणों से युक्त है। वह स्वाभाविक रूप में ही लक्ष्मी जान पड़ती है। वह कुमारी प्रत्येक क्षण अपने हृदय में पति-विषयक प्रीति को धारण किये रहती है। हे चौहान राजा पृथ्वीराज! उस शशिवृता ने तुमसे विवाह करने का ही व्रत ले रखा है अपने इसी मनोकामना की पूर्ति के लिए वह प्रत्येक दिन गौरी का पूजन किया करती है। हिन्दुओं में ऐसा माना जाता है कि यदि कोई स्त्री गौरी का पूजन करती है तो उसकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

विशेष—'चन्द्रानन', 'काम बान', 'अंजुरी सु लच्छिय', 'मार कलह' में रूपक अलंकार तथा 'चित पुत्तरि परमानन' में उपमा अलंकार है।

॥ दूहा ॥

बरनी जोग बरन्न को। बर भुल्लै करतार॥
तिहि कारन ढुंढत फिरै। सत्त समुद्रह पार॥ २९॥
जा कारन ढुंढत फिरत। सो पायो दीलीस॥
अब जद्दव ससिवृत चढ़िय। दीनी ईस जगीस॥ ३०॥
हंस कहै राजन्न सुनि। इह उतपति अनुराग॥
श्रवन सुनी संभरि सु पहु। कहौं वृत्त संलाग॥ ३१॥

शब्दार्थ—वरनी = जिसका वरण होने वाला है, दुलहन, कुमारी। वरन्न कौ = वरण करने के लिए। वर = दूल्हा। भुल्लै = भूल गया। ढुंढत फिरै = ढूँढ़ा जाता है। सत्त = सात। दीलीस = दिल्लीश्वर, पृथ्वीराज। जद्दव = यादव कुमारी। चढ़िय = यह वात चढ़ गई है, प्रतिज्ञा कर ली है। ईस = ईश, भगवान् शंकर। जगीस = जगतीपति, पृथ्वीपति। इह = इस प्रकार। उतपति = उत्पत्ति। संभरि = संभरी (प्रदेश)। पुहु = प्रभु, राजा। वृत्त संलाग = वह व्रत में लगी, उसने व्रत धारण किया।

प्रसंग—हंस राजा को बताता है कि ब्रह्म तो उसके योग्य वर की सृष्टि करने के लिए भूल गया। उसके वर की खोज सर्वत्र हो रही है, किन्तु कहीं मिलता नहीं। अब तो उसके योग्य वर तुम मिल ही गये हो, भगवान् शंकर ने भी तुम्हें पाने के लिये उसको वरदान दिया है। पुनः हंस पृथ्वीराज को यह बताना चाहता है कि मैंने अब तक तो उसके जन्म के विषय में कहा, उसके तुम्हारे प्रति प्रेम के विषय में कहा। अब यह बताता हूँ कि उसने तुम्हें प्राप्त करने के लिए कैसा व्रत लिया हैं।

व्याख्या—उस कुमारी दुल्हन के वरण करने योग्य वर का निर्माण करना विधाता भूल गया, अर्थात् उसने शशिवृता-रूप में एक अनिन्द्य सुन्दरी का तो निर्माण कर दिया, किन्तु उस सुन्दरी के योग्य वर की रचना करने में विधाता को विलकुल ध्यान ही न रहा। इसलिए उसके योग्य वर की प्राप्ति के लिए सात समुद्रों के पार तक खोज की जा रही है। किन्तु जिस वर के कारण सर्वत्र खोज चल रही है उसे दिल्लीश्वर में पा लिया गया; अर्थात् तुम ही उसके उपयुक्त पति हो। अब तो यादव राजकुमारी शशिवृता ने यह व्रत ले लिया है कि वह दिल्लीश्वर को वरण करेगी, अन्य को नहीं और भगवान् शंकर ने भी उसे पृथ्वीपति पृथ्वीराज को पाने का वरदान दे दिया है। हंस यह कहना चाहता है कि पृथ्वीराज को पति रूप में प्राप्त करने की केवल शशिवृता ने ही प्रतिज्ञा नहीं की है, वरन् शिव जी का वरदान भी उसे प्राप्त हो चुका हैं, अतः अब तो उसकी मनोकामना पूर्ण होगी ही। पुनः हंस पृथ्वीराज से कहने लगा—हे राजन् इस प्रकार से (जैसा कि पहले बताया जा

चुका है) उसकी उत्पत्ति हुई है और उसे तुम्हारे प्रति अनुराग हुआ है। हे संभरी-नरेश ! अब मैं इस बात को बताना चाहता हूँ कि उसने कैसा व्रत लिया है। आप कान लगाकर सुनें।

विशेष—२९ वें दूहे के प्रथम चरण में अतिशयोक्ति अलंकार है, क्योंकि जब ब्रह्मा शशिवृता के योग्य वर का सृजन करना ही भूल गया तो क्या पृथ्वीराज उस ब्रह्म की सृष्टि से बाहर था ?

हंस की वाग्विदग्धता दर्शनीय है। वह शशिवृता का वर्णन कुछ इस प्रकार कर रहा है कि पृथ्वीराज की उत्सुकता प्रतिपल बढ़ती जाती है। पहले उसने शशिवृता की उत्पत्ति के विषय में बताया, इससे पृथ्वीराज उसे प्राप्त करने के लिए लालायित हो गया। फिर उसने यह बताया कि किस प्रकार शशिवृता में पृथ्वीराज-विषयक प्रीति उत्पन्न हुई। यह सहज सत्य है कि जब हम यह सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति हमसे प्रेम कर रहा है तो हमारे हृदय में भी उसके प्रति प्रेम जाग्रत हो जाता है और यदि हमें कहीं यह ज्ञात हो जाए कि वह व्यक्ति जो हमसे प्रेम करता है, एक अनिन्द्य सुन्दरी है, फिर तो कहना ही क्या ! पृथ्वीराज को यह तो ज्ञात हो ही गया कि वह एक अप्सरा है और फिर जब उसे यह भी ज्ञात हो गया कि वह उससे प्रेम भी करती है तो उसक प्रेमाग्नि में एक आहुति और पड़ गयी। अब हंस पृथ्वीराज को यह बता देना चाहता है कि बाला ने पृथ्वीराज को प्राप्त करने के लिये कैसा व्रत धारण किया है। इससे पृथ्वीराज की उत्सुकता और भी प्रबल हो उठी।

॥ कवित्त ॥

देवाग्गिरि नृपभान। सोम बंसी संतपै अप॥
तिन अनंत बल तेज। बहुत है गै पैदल तप॥
नयर मध्य कोटीस। बसै बानिक अनंत लछि॥
धर्म तप्प नह पार। ने कोऊर दास रहै इछु॥
सा एक लष्ष पयदल पुलत। षग्ग जोर षूनं बहै॥
जद्दव नरिंद सब गुनकुसल। धन प्रताप दिन दिन लहै॥३२॥
तास पुत्र नरिंन। पुत्रि ससिवृता प्रमानं॥

दुअ अनंत सूरत्ति । रूप मकरंद सु जानं ।।
भगिनि भ्रात दुअ प्रीत। पिता माता प्रिय मानं ।।
अति उछाह रंग रमै । असन इक ठाम प्रधानं ।।
सुवरिष्ष भई सत्तह रुदुअ । अतिअ भूतलच्छिन प्रवल ।।
लालित संरूप पियचंदसम । राजकुंअरि राजै अतुल ।।३३।।

तिन राजन कै मंत्र । नाम आनंद चंद भर ।।
तिन भगिनी चंद्रिका। व्याह व्याही सुदूरि धरि ।।
नैर कोट हिस्सार । तास षित्रीय प्रमथ वर ।।
अति सु प्रीति नर नारि। सुष्ष अनुभवै दीह पर ।।
कोइवक दिवस भरतार वहि। तुच्छ दीह परलोक गत ।।
आनई वहनि फिर अप्प ग्रह। अति सु दुष्ष निसि दिन करत ।।३४।।

शब्दार्थ—देवग्गिरि = देवगिरि, देवास । संतपै = वैभवपूर्ण शासन करता था। बहुल = बहुत से । है गै = घोड़े, हाथी । तप = तहप, तहाँ पर, वहाँ । नयर = नगर । कोटीस = कोटि मुद्राओं के स्वामी, करोड़पति । वानिक्क = व्यापारी । अनंत लच्छि = अपार लक्ष्मी वाले, अपार धन वाले । तप्प = तप । नह = नहीं । इछु = इच्छा । सा = उसके । लष्ष = लक्ष, लाख । पयदल = पैदल सेना । पुलत = पलायमान करते, प्रयाण करते समय । पग्ग जोर = खड्ग के बल से । षूंनं = खूँख्वार शत्रु, भयानक शत्रु । बहे = भगा देता । तास = उसका । प्रमानं = मानो, समझो । दुअ = दोनों । अनंत सूरत्ति = अपार सूरत वाले, अत्यधिक सुन्दर । रूप = सौन्दर्य में । मकरंद = कामदेव । जानं = जानो, समझो । प्रिय मानं = आनन्द मनाते थे । उछाह = उत्साह । रंग रमैं = क्रीड़ा करते थे । असन = खाते थे । ठाम = स्थान । प्रधानं = प्रायः, बहुधा । वरिष्ष = वर्ष । सत्तहऽरुदुअ = उन्नीस । अभूतलच्छिन = अलौकिक अथवा दिव्य लक्षणों से युक्त । लालित = पालित, पालन की गयी । पिय = प्रियदर्शी । राजै = सुशोभित होती थी । अतुल = बहुत अधिक । तिन राजन कै = उस राजा के । मंत्र = मन्त्री । भर = भट, योद्धा, वीर । तिन = उसकी अर्थात आनन्दचन्द की । व्याह-व्याही = विवाह में व्याही गयी । सुदूरि धरि = बहुत दूर देश में ।

हिस्सार = हिसार । तास = उसका (पति)। षित्रीय = खत्री जाति में। प्रमथ = कामदेव। सुष = सुख। दीह पर = प्रतिदिन, सदैव। कोइक्क = कोई एक, किसी। भरतार = पति। वहि = वह। तुच्छ दीह = थोड़े ही दिनों में। परलोक गत = स्वर्ग सिधार गया। आनई = ले आया। अप्प = अपने। ग्रह = घर। दुष = दुःख।

प्रसंग यहाँ पर प्रथम कवित्त में कवि राजा भान के ऐश्वर्य का वर्णन करता है, द्वितीय में शशिवृता तथा उसके भाई के, सौन्दर्य का विशेष रूप से शशिवृता का और तीसरे कवित्त में कवि हंस के माध्यम से राजा भान के मन्त्री आनन्दचन्द की भगिनी चन्द्रिका के विवाह का तत्पश्चात् उसके वैधव्य का वर्णन करता है। स्मरण रहे, हंस शशिवृता का वर्णन करना कहीं नहीं भूलता। वह सोचता है कहीं ऐसा न हो कि अन्य प्रसंगों में पड़कर राजा शशिवृता को विस्मृत कर बैठे। वह पृथ्वीराज की शशिवृता-विषयक स्मृति को प्रत्येक क्षण जाग्रत रखना चाहता है। वस्तुतः यही कवि-कौशल है।

व्याख्या—इस समय देवगिरि (देवास) पर सोमवंशी राजा भान बहुत ही वैभवपूर्ण ढंग से शासन कर रहा है। उसका तेज और बल अनन्त है। वहाँ देवगिरि में अश्वसेना, गजसेना तथा पैदलसेना असंख्य है। अपार धन से युक्त करोड़पति व्यापारी उस नगर में निवास करते हैं। उसके धर्म और तप का पार नहीं है। उसके सेवकों की कोई भी इच्छा शेष नहीं है, अर्थात् उसके सेवक भी इतने वैभवपूर्ण हैं कि वे जो इच्छा करते हैं, वह इच्छा पूरी होते देर नहीं लगती। उसके चलने पर एक लाख सेना चल पड़ती है। कहने का अभिप्राय यह है कि वह जब किसी दूसरे राजा पर चढ़ाई करता है तब उसके पास एक लाख सेना होती है। वह अपनी तलवार के बल पर भयावह से भयावह शत्रु को भी मारकर भगा देता है। ऐसा वह यादवराज भान समस्त गुणों में निष्णात है। नित्य-प्रति उसका धन एवं ऐश्वर्य बढ़ता है। उस राजा की दो सन्तानें हैं—एक पुत्र तथा दूसरी पुत्री। पुत्र का नाम नारायण है तथा पुत्री का नाम शशिवृता है। वे दोनों बहिन भाई अपार सूरत वाले हैं, अर्थात बहुत अधिक सुन्दर हैं। सौन्दर्य में इन दोनों को कामदेव ही समझो। भाई-बहिन

में परस्पर अपार स्नेह है। उन्हें प्राप्त कर माता-पिता बड़ा ही मोद मानते हैं। वे बड़े उत्साहपूर्वक क्रीड़ा किया करते हैं तथा दोनों मिलकर प्रायः एक ही स्थान पर, अर्थात् एक ही साथ भोजन करते हैं। वह शशिवृता जब उन्नीस वर्ष की हो गयी तो उसमें प्रभूत मात्रा में दैवी लक्षण आ गये। पालन की गयी वह शशिवृता रूप में प्रियदर्शी चन्द्रमा के तुल्य है। वह राजकुमारी इस समय अपार शोभा पाती है। उस राजा के वीर मन्त्री आनन्दचन्द की भगिनी चन्द्रिका का विवाह सुदूर स्थित देश नैर कोट हिसार में किया गया। उस चन्द्रिका का पति खत्री जाति में कामदेव के समान अति सुन्दर था। पति-पत्नी दोनों में प्रगाढ़ स्नेह था। वह दम्पति प्रतिदिन आपार सुख का अनुभव करता था। कुछ ही दिनों के अनन्तर उस चन्द्रिका का वह पति एक दिन स्वर्ग सिधार गया। तदनन्तर आनन्दचन्द अपनी भगिनी को अपने घर ले आया। अपनी बहिन के वैधव्य के कारण वह दिन-रात दुःखी रहता था। बात भी ठीक है, ऐसा कौन-सा पाषाण-हृदय भाई होगा जो अपनी बहिन को दुःखी देखकर द्रवित न हो और विशेषकर उसे वैधव्य जीवन के दिन व्यतीत करते देखकर।

॥ दूहा ॥

अति प्रवीन विद्या लहन। गान तान शुभ साज॥
कैइक दिन अन्तर बहिग। गइ अन्तेवर राज ॥ ३५ ॥
तिन संगह ससिवृत्त सुअ। पठन विद्य सुभ काज॥
देवि कुंवरि अद्भुत अवय। रंजित है अति लाज॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—प्रवीन = प्रवीण, चतुर, कुशल, निष्णात। लहन = लेने में, प्राप्त करने में। तान = लय। अन्तर = अवकाश। बहिग = व्यतीत होने पर। अन्तेवर = अन्तःपुर। राज = राजा के। तिन = उसके। संगह = साथ। सुअ = उस। देवि = चन्द्रिका देवी। अवय = अवयव, अंग-सौन्दर्य। रञ्जित = लाज (लज्जा के कारण)।

प्रसंग—अब हंस वह प्रसंग प्रारम्भ करना चाहता है, जिसमें वह राजा पृथ्वीराज को यह बता देना चाहता है कि कुमारी शशिवृता ने उसके (पृथ्वीराज के) विषय में किस प्रकार सुना। हंस गुण-श्रवण का माध्यम

चन्द्रिका को बताता है और इसीलिए उसने चन्द्रिका का पूर्व परिचय देना उचित समझा।

व्याख्या— वह चन्द्रिका विद्या-ग्रहण करने मे बड़ी कुशल थी। सुन्दर साज-बाज के साथ (उतम वाद्ययन्त्रों पर) वह बड़े लय से गाती थी। उसके वैधव्य के कुछ ही दिन व्यतीत होने पर वह राजा के अन्त:पुर में प्रवेश पा गयी। वह देवी चन्द्रिका राजकुमारी शशिवृता के अद्भुत रूप-लावण्य को देखकर लज्जा के कारण लाल हो गयी। कहने का तात्पर्य यह है कि जब चन्द्रिका ने परम सुन्दरी राजकुमारी को देखा तो उसकी उस सुन्दरता पर मुग्ध हो गयी और जब वह उसके अनुरूप पति पृथ्वीराज को प्रस्तावित करने को हुई तब उसके कपोलों पर लज्जा के कारण लालिमा दौड़ गयी। प्राय: देखा जाता है कि ऐसे प्रसंगों पर किसी पुरुष का नाम लेते स्त्रियाँ संकोच किया करती हैं।

विशेष—'देवि कुंवरि अद्भुत अवय। रंजित है अति लाज' जैसे कोमल मधुर एवं मनोवैज्ञानिक प्रसंगों की अवतारण से कवि का सहृदय और व्यवहार कुशल होना ध्वनित होता है।

टिप्पणी—कुछ टीकाकारों ने 'तिन संग्रह ससिवृत सुअ। पठन विद्य सुभ काज' का अर्थ किया है, 'उस चन्द्रिका के द्वारा शशिवृता का विद्याध्ययन रूपी शुभ कार्य प्रारम्भ हुआ,' किन्तु यह अर्थ पैंतीसवें दोहे के प्रारम्भ में ही आया है—'अति प्रबीन विद्या लहन' अर्थात् वह विद्याध्ययन में बड़ी कुशल थी। इससे ध्वनित होता है कि अभी तक वह स्वयं विद्याध्ययन कर रही है, और कदाचित् राजा ने भी अपने मंत्री का दु:ख देखकर उसे अपने यहाँ अपनी पुत्री की सहेली रूप में ही रखा होगा, अध्यापिका के रूप में नहीं।

॥ कवित्त ॥

जब षित्रिन चंद्रिका। कहै गुन नित चहुवानं॥
जेस पराक्रम राज। तेइ बरने दिन मानं॥
राजकुंअरि जब सुनै। तबै उम्भरै रोम तन॥
फिरि पुच्छै ससिवृत। सद्दि एकंत मत्त गुन॥

जै जै सु पराक्रम राज किय। सोइ कहै षित्रिन समथ ॥
श्रीतान राग लग्यौ उअर। तो वृत्त लिनौ सुनौ सुकथ ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—षित्रिन = खत्रिणि, वैश्यों में खत्री एक गोत्र होता है। नित = नित्यप्रति। चहवानं = चौहान वंशी पृथ्वीराज के। जेस = जैसा। पराक्रम = पुरुषार्थ। तेइ = तैसा, वैसा। दिन मानं = दिन प्रमाण, दिनपर्यन्त, दिनभर (रात्रि को तो चन्द्रिका उसके पास ही नहीं रहती थी, अतः जिन टीकाकारों ने 'दिनमान' का अर्थ सदैव किया है वह उचित प्रतीत नहीं होता)। उब्भरैं = उठते थे। फिरि = बार-बार। सद्दि = बुलाकर। एकंत = एकान्त में। मत्त गुन = मत्त बना देने वाले गुण। समर्थ = समर्थ, कार्य साधन में समर्थ। श्रोतान राग = श्रोतानुराग। उअर = उर, हृदय। तो = तुम्हारा तुम्हें वरण करने का। वृत्त = वृत, प्रतिज्ञा। मुकथ = सुकथ = वह कहानी वस्तुतः यहाँ पर 'मुकथ' शब्द अशुद्ध छपा है, इसे 'सुकथ' होना चाहिए था. 'पृथ्वीराज रासो' की अन्य प्रतियों में सुकथ पाठ ही छपा है। 'मुकथ' का तो कोई अर्थ ही नहीं होता। 'सुकथ का अर्थ है 'सो कथा', अर्थात् वह कहानी।

प्रसंग—प्रस्तुत कवित्त में हंस पृथ्वीराज को बताता है कि किस प्रकार कुमारी शशिवृता का श्रोतानुराग उत्पन्न हुआ।

व्याख्या—जब खत्रिणी चन्द्रिका नित्यप्रति आपके गुणों का वर्णन करती थी, जिस-जिस प्रकार का आपने पराक्रम किया है, उसी-उसी प्रकार के पराक्रम को वह दिन भर शशिवृता से कहा करती, तथा जब-जब राजकुमारी आपके पराक्रम को सुनती तो (हर्षातिरेक) के कारण उसे रोमाञ्च हो जाता। यह अकाट्य सत्य है कि जिस व्यक्ति से हम प्रेम करने लग जाते हैं उसके गुण-श्रवण में हमें अपार आनंद आता है और हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। शशिवृता चन्द्रिका को एकान्त में बुलाकर बार-बार उससे आपके उन गुणों को पूछती जो उसे मत्त बना देते थे। वस्तुतः हर्ष के कारण कभी-कभी व्यक्ति की विक्षिप्त-सी अवस्था हो जाती है। जो अपने पराक्रमशाली कार्य किये हैं उन्हीं-उन्हीं कार्यों का विवरण वह समर्थ खत्रिणी चन्द्रिका प्रस्तुत करती। इस प्रकार राजकुमारी को श्रोतानुराग उत्पन्न हो गया और उसने

आपको वरण करने का व्रत ले लिया। हंस कहने लगा—अब मैं आपको वही कहानी सुनाता हूँ (जिस प्रकार शशिवृता ने शिवाराधना करके आपको प्राप्त करने का वर पाया)।

विशेष—एक प्रेमी अपने प्रिय के गुणों का वर्णन सुनने को किस प्रकार उद्यत रहता है, इसका यहाँ पर बड़ा सुन्दर वर्णन प्रस्थापित किया गया है, जो कवि के बुद्धि-कौशल्य का परिचायक है।

॥ दूहा ॥

यों वरष्ष दुअ बित्ति गय। भइय वैस वर ऊँच॥
तव कामन सु कलेव सुर। करै सेव सुचि संच॥ ३८॥
हर सेव निस प्रति करै। मन वाचा क्रम वंच॥
वर चहुंआंन सुकामना। सेवा ईस सुगन्ध॥ ३९॥
बचन सिवा सिव वाच दिय। पति पावै चहुंआन॥
वर प्रमुदिय प्रमथाधिपति। हुअ सुपनंतर मान॥ ४०॥
कै जानै मन अप्पनो। कै षित्तिन कै ईस॥
और शिवा सुनि ईस प्रति। किय अस्तुति वर दीस॥ ४१॥

शब्दार्थ—वरष्ष = वर्ष। दुअ = दो। बित्ति गय = व्यतीत हो गये। वैस = वय, आयु। ऊँच = ऊँची, बड़ी कामन = कामिनी, सुन्दरी शशिवृता। कलेष सुर = केलवेश्वर शिव। सुचि = पवित्र। संच = सच्ची। हर = भगवान् शंकर। सेव = सेवा। मन वाचा क्रम = मनसा, वाचा और कर्मणा। बंध = बंधी हुई। वर = पति। सु = उसकी। कामना = चाह, इच्छा। सुगन्ध = सुगन्धित पदार्थ। वाच दिया = कह दिया। प्रमुदिय = प्रसन्न हुए हैं। प्रमथाधिपति = कामदेव-विजेता भगवान् शंकर। सुपनंतर = स्वप्न में। मान = माना जा, अर्थात् अब तुझे अपने शरीर को कष्ट देने की कोई आवश्यकता नहीं, यह मेरी बात मान ले। कै = या। अप्पनो = अपना। ईस = भगवान् शिव। शिवा = पार्वती। ईस प्रति = शिवजी से। बर दीस = वर दिया।

प्रसंग—प्रस्तुत प्रसंग [illegible] शशिवृता की शिवाराधना तथा शिव के द्वारा दिये गए वरदान का विवरण है।

व्याख्या—इस प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो गए और वह राजकुमारी आयु में आगे बढ़ने लगी। जब वह बड़ी हुई तब उस कामिनी ने केलवेश्वर भगवान् शंकर की पवित्र एवं सच्ची आराधना प्रारम्भ कर दी। हे चौहानवंशी राजन्! वह कुमारी आपको पति रूप में प्राप्त करने के लिए मनसा-वाचा-कर्मणा तीनों ही प्रकार से भगवान् शंकर की सेवा किया करती। शिवाराधना में वह प्रायः सुगन्धित पदार्थ ही चढ़ाया करती थी। इसी बीच में जबकि उसकी शिवाराधना चल रही थी, उसे स्वप्न में ऐसा दिखाई दिया कि भगवान् शंकर के वचनों को पार्वती उससे कह रही हों और उसे यह बता रही हों कि कामदेव-विजेता भगवान् शंकर तुझ पर प्रसन्न हो गए हैं और तू चौहानवंशी पृथ्वीराज को पति-रूप में प्राप्त करेगी, भगवान् शंकर के ये ही वचन हैं। अब तू मान जा, शरीर को कष्ट मत दे, क्योंकि तेरी मनोकामना पूर्ण हो चुकी है। इस बात को कुमारी का अपना मन ही जानता था, या खत्रिणी चन्द्रिका जानती थी, या भगवान् शंकर जानते थे, अथवा फिर वह पार्वती ही जानती थीं; जिन्होंने पृथ्वीराज को शशिवृता के लिए पति-रूप में प्राप्त करने की स्तुति करके प्रसन्न किया और शशिवृता को यह वरदान दिलाया। इन व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य कोई इस बात को नहीं जानता था।

टिप्पणी—३९वें दूहे की प्रथम पंक्ति में जो 'निस' पाठ है वह अशुद्ध छपा है, उसके स्थान पर शुद्ध पाठ 'नित' होना चाहिए था। विचारणीय है कि राजकुमारी शिव की आराधना रात्रि में तो करती ही नहीं होगी, दिन में ही करती होगी। अन्यत्र भी यही 'नित' पाठ है। 'नित' का अर्थ है—'नित्यप्रति'।

॥ कवित्त ॥

हुअ प्रसन्न सिव सिवा। बोलि हूँ पठ्य तुझ्झ प्रति ॥
इह बरनी तुम जोग। चन्द जोसना वान वृत ॥
ज्यों रुकमिनि हरि देव। प्रीति अति बढै प्रेम भर ॥
इह गुन हंस सरूप। नाम दुजराज भनिय चर ॥
वुल्लिय सुपिता कमधज्ज-नर। ब्याहन पठ्यौ सु गुर दुज ॥
आवै सु भाल [illegible] हुव। [illegible] सुं [illegible]म सुकज ॥ ४२॥

शब्दार्थ—हुअ प्रसन्न = प्रसन्न होने पर। हूं = मुझे। पठय = भेजा है। तुज्झ प्रति = तुम्हारी ओर। इह बरनी = इस वरण करने योग्य सुन्दरी के। चन्द जोसना = चन्द्र-ज्योत्सना, चन्द्र की ज्योति के सदृश। वान वृत = व्रतवान्; व्रत ग्रहण करने वाली। हरि देव = भगवान् श्रीकृष्ण। प्रेम भर = भरपूर प्रेम करने पर। इह = ये। चर = दूत। सुपिंता = उस (कुमारी) के पिता ने। गुर दुज = पुरोहित। भ्रात जैचन्द = जयचन्द का भाई वीर चन्द। सुत = श्रुत, सुना है। कमधज = कमधज वीरचन्द। व्याहन सुकज = उसके साथ विवाह करने के लिए। पुंज = पुञ्ज कुमारी शशिवृता।

प्रसंग—कुछ लोग अपना कार्य बनाने में बड़े कुशल होते हैं। क्योंकि शशिवृता ने बड़े अनुनय विनयपूर्वक हंस को अपना कार्य सिद्ध करने को भेजा है। शशिवृता ने हंस को पिता कहकर सम्बोधित किया है, अतः अब हंस का यह कर्त्तव्य है कि वह किसी प्रकार पृथ्वीराज को शशिवृता के पक्ष में लाए। इसी कारण, अर्थात् पृथ्वीराज को शशिवृता के पक्ष में लाने के कारण ही हंस पहले तो पृथ्वीराज को यह बताता है कि शशिवृता पूर्व जन्म में उसके व्रत के विषय में पृथ्वीराज से निवेदन करता है, तब कहीं जाकर वह मूल विषय पर आता है कि शशिवृता के पिता ने उसका विवाह कमधज वीरचन्द के साथ तय कर दिया है, किन्तु वह कुमारी तो आपके ही योग्य है। इस प्रकार हंस बड़ी चतुरता से पृथ्वीराज के हृदय को शशिवृता की ओर आकृष्ट कर लेता है। यदि कदाचित् हंस ने पृथ्वीराज को यह पहले ही बता दिया होता कि कुमारी का विवाह कमधज वीरचन्द के साथ होना निश्चित हुआ है, आप उसकी रक्षा कीजिए और उसके साथ आप विवाह कीजिए, तो कदाचित् पृथ्वीराज इसके लिए तैयार न हुआ होता। किन्तु हंस ने तो पहले शशिवृता के जन्म, अनुराग तथा व्रत के विषय में बतलाया तब कहीं मूल विषय को सामने रखा। ऐसी स्थिति में पृथ्वीराज का शशिवृता की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। वाह रे हंस का व्यवहार-नैपुण्य।

व्याख्या—इस प्रकार जब भगवान् शंकर तथा पार्वती शशिवृता पर प्रसन्न हो गयी और उन्होंने उसे पृथ्वीराज को पति-रूप में प्राप्त होने का

वरदान भी दे दिया, तब उस कुमारी ने मुझे बुलाकर तुम्हारी ओर भेजा है। अपनी कान्ति में चन्द्र की ज्योत्सना के समान तथा उसे ग्रहण करने वाली इस वरण करने योग्य कुमारी के अनुरूप तुम ही वर हो। जिस प्रकार रुक्मिणी तथा भगवान् कृष्ण में प्रेम था, उसी प्रकार का प्रेम तुम दोनों में भी एक दूसरे को भरपूर प्रेम करने पर बढ़ेगा। (Love begets Love) शशिवृता के ये समस्त गुण पक्षिराज हंस के रूप में स्थित उस दूत ने पृथ्वीराज से वर्णन किये। आगे उसने कहा—उस कुमारी के पिता ने अपने पुरोहित को भेजकर कमधज वीरचन्द को शशिवृता से विवाह करने के लिए बुलाया है। उस पुञ्जकुमारी शशिवृता से विवाह करने के लिए जयचन्द का भाई कमधज वीरचन्द आयेगा, ऐसा सुना गया है।

विशेष—'चन्द जोसना' में रूपक अलंकार सुन्दर वन पड़ा है।

॥ दूहा ॥

हूँ प्रसन्न बहु पंगुरै। दियौ हुकुम गुअ बंध ॥
प्रेरि सथ्थ जव अप्प पर। अति पर घर सुअ नंध ॥ ४३ ॥
सज्जि सेन चतुरंग नर। देवग्गिरि कज व्याह ॥
अति अगनित सथ द्रव्य लिय। नर उच्छव करनाह ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—बहु = बहुत । पंगुरै = पंगुराज जयचन्द। गुअ = सुअ = उस, 'गुअ' पाठ अशुद्ध है, यह शब्द निरर्थक है, गुअ के स्थान पर 'सुअ' पाठ होना चाहिये। प्रेरि = बुला लो। सथ्थ = साथी। अप्प पर = अपने, पराये । पर घर = दूसरा घर, कन्या का घर। सुअ = उसे। नंध = सोच-विचारकर। चतुरंग = चतुरंगिणी। कज व्याह = विवाह के लिए। सथ्थ = साथ। द्रव्य = धन। उच्छव = उत्सव। करनाह = करने को, मनाने को।

प्रसंग—यहाँ पर जयचन्द द्वारा अपने भाई वीरचन्द को अपने तथा पराये व्यक्तियों को निमन्त्रित करने का तथा वीरचन्द द्वारा चतुरंगिणी सेना सजाकर विवाह के लिए प्रयाण करने का वर्णन है।

व्याख्या—पंगुराज जयचन्द ने इस विवाह-विषयक प्रस्ताव से बहुत अधिक प्रसन्न होकर अपने उस भाई वीरचन्द को आदेश दिया कि पराये घर अर्थात्

कन्या के पिता की स्थिति को सम्यक् सोच-विचार कर अपने तथा पराये व्यक्तियों को आमन्त्रित कर लो। यहाँ पर जयचन्द की दूरदर्शिता का पता चलता है। आज भी जब विवाह होते हैं तो वर का पिता बारात में उतने ही व्यक्ति ले जाता है, जितनी कन्या के पिता की सामर्थ्य हो। तदनन्तर वीरचन्द देवगिरि में विवाह रचाने के लिए चतुरंगिणी सेना सजाकर, उत्सव मनाने के लिये अपने साथ अपार धन लेकर चल दिया।

।। दूहा ।।

कह संभारि वर हंस गुनि। कह जद्दों संकेत ॥
कौन थान हम मिलन है। कहत बीच संमेत ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—संभारि = संभरी-नरेश। गुनि = गुन कर, विचार कर। कह = बताओ। जद्दों = यादव राजकुमारी शशिवृता का। संकेत = संकेत-स्थल, मिलन- स्थान। कोन = किस। थान = स्थान। संमेत = मध्यस्थ।

प्रसंग—जब पृथ्वीराज ने यह सुना कि शशिवृता का विवाह वीरचन्द के साथ होना निश्चित हो गया है, तो उसे बड़ी उद्विग्नता हुई। इसीलिए अब वह हंस से यह पूछ रहा है कि शशिवृता उसे कहाँ मिलेगी।

व्याख्या—विचार करने के उपरान्त संभरीनरेश पृथ्वीराज हंस से कहने लगा—हे हंस, हमें यादवराज कुमारी का संकेत-स्थल बताओ, अर्थात् हमें यह बतलाओ कि वह कुमारी हमें कहाँ मिलेगी। साथ-ही-साथ यह भी बताओ कि हमारे तथा उसके बीच में मध्यस्थ कौन होगा, क्योंकि मध्यस्थ के बिना यह कैसे सम्भव हो सकेगा कि शशिवृता पृथ्वीराज को पहचान सके, इसीलिए मध्यस्थ की भी आवश्यकता है।

विशेष—कवि चन्द में किसी बात को दो बार कहने की प्रवृति दृष्टिगोचर होती है। जब 'जद्दों संकेत' कह दिया तो 'कौन थान हम मिलन है' कहना व्यर्थ था, किन्तु ऐसा प्रायः कवि ने किया है; जैसा कि अन्यत्र भी अनेकों स्थलों पर द्रष्टव्य है। अपनी भाषा में बल उत्पन्न करने के लिए ही कवि ने ऐसा किय

॥ गाथा ॥

कह यह दुज संकेतं । हो राज्यंद धीर ढिल्लेसं ॥
तेरसि उज्जल माघे । व्याहन वरनीय थान हरसिद्धिं ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—राज्यंद = राजेन्दु, राजाओं में श्रेष्ठ । ढिल्लेसं = दिल्लीश्वर । तेरसि = त्रयोदशी । उज्जल = शुक्ल पक्ष । माघे = माघ मास । वरनीय = वर्णन किया है, कहा है ।

प्रसंग—यहाँ पर हंस पृथ्वीराज को शशिवृता से मिलने का स्थल बतलाता है ।

व्याख्या—हंस पक्षी संकेत-स्थल बताता हुआ कहने लगा—हे राजाओं में श्रेष्ठ धैर्यशाली दिल्लीश्वर ! उस शशिवृता ने माघ मास के शुल्क पक्ष की त्रयोदशी के दिन हरसिद्धि नामक स्थान पर आपके साथ विवाह करने को आने के लिए कहा है । इससे यह ध्वनि निकलती है कि ठीक इसी दिन पृथ्वीराज को शशिवृता का वरण करने के लिए उस स्थान पर पहुँचना चाहिए ।

॥ दूहा ॥

दव राजन फिरि उच्चरै । हो देवस दुजराज ॥
जो संकेत सु हम कहिय । सो अष्षी त्रिय काज ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—उच्चरै = कहा । देवस = देवास-निवासी । अष्षी = कहो । त्रिय-काज = स्त्री से, कुमारी से ।

प्रसंग—पृथ्वीराज उसी संकेतस्थल को, जो अभी-अभी हंस ने राजा को बताया है, राजकुमारी से निवेदित करने के लिए कहता है ।

व्याख्या—हरसिद्धि नामक स्थान को संकेतस्थल जान लेने के बाद पृथ्वीराज हंस से कहता है—हे देवास-निवासी द्विजराज ! जो संकेतस्थल तुमने हमें बताया है, वही जाकर पुनः राजकुमारी को बतला दो । कहीं ऐसा न हो कि बताये हुए दिवस एवं स्थान पर हम तो वहाँ पहुँचे और राजकुमारी न पहुँच सके इससे बड़ा अनर्थ हो जायेगा ।

॥ अरिल्ल ॥

सो अप्पिय हम नेम सु ट्ठ ट्ट्ढ्ढं । तुम अवश्य आयो प्रभु गढ्ढं ॥
सेत माघ त्रयोदसि सा वहि । हर सुकलेव थान सुति भावहि ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—सो = ऐसा ही । नेम = नियमधारिणी राजकुमारी से । सुदृढ्ढं = भली प्रकार । अवस्य = अवश्य । प्रभु गढ्ढं = देवालय को । वहि = वह कुमारी । हर = भगवान् शंकर । सुकलेव = केलवेश्वर । सुति भावहि = श्रुति-भाव से, पवित्र भाव से, सत्य भाव से ।

प्रसंग—हंस पृथ्वीराज से यह प्रतिज्ञा करता है कि कुमारी शशिवृता प्रदत्त समय एवं स्थान पर आएगी ।

व्याख्या—हंस कहने लगा—हे राजन् ! जो तुमने कहा है, उसे हम भली प्रकार से उस नियमधारिणी कुमारी को बतला देंगे । तुम्हें दिये हुए समय पर देवालय में अवश्य पहुँच जाना चाहिए । माघ शुक्ला त्रयोदशी को वह कुमारी सत्य भाव से केलवेश्वर भगवान् शंकर के स्थान पर पहुँचेगी ।

विशेष—यहाँ पर 'पृथ्वीराज रासो' के 'शशिवृता-विवाह' का पूर्व चरण समाप्त होता है । एक प्रकार से यहाँ तक यह सब 'शशिवृता-विवाह' का विस्तृत भूमिकामात्र था ।

॥ दूहा ॥

इह कहि हंस सु उड़ि गयौ । लग्यो राज श्रोतान ॥
छिन न हंस धीरज धरत । सुख जीवन दुख प्रान ॥ ४९ ॥
दस सहस्र हैवर चढ़िय । अप दिल्ली चहुआंन ॥
हुकम सद्दि साहन कियौ । दै सूरन बिलहान ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—इह = ऐसा । श्रोतान = श्रोतानुराग । छिन = क्षण भर के लिये भी । हंस = आत्मा । धीरज = धैर्य । हैवर चढ़िय = अश्वारोही सेना घोड़ों पर चढ़ी । सद्दि = बुलाकर । साहन = साहनी, अश्वशाला के अधिकारी । सुरन = सरों को, वीरों को, बहादुरों को । बिलहान = विलहने, प्रमुख (वे घोड़े जो अश्वशाला की एक शाखा-विशेष से मुख्य-मुख्य वीरों को दिये जाते थे) ।

प्रसंग—शशिवृता को पाने के लिए पृथ्वीराज प्रत्येक पल बेचैन रहने लगा। वह यह चाहने लगा कि वह सुन्दर घड़ी कब आयेगी, जब उसे शशिवृता जैसी सुन्दरी मिलेगी। जल्दी से जल्दी शशिवृता को पाने के लिए वह अपनी अश्ववाहिनी सजा लेता है।

व्याख्या—इस प्रकार शशिवृता की समस्त कहानी कहकर हंस तो उड़कर यथास्थान चला गया, किन्तु राजा के हृदय में श्रोतानुराग-रूपी बाण लग गया। उसके कारण राजा की आत्मा को क्षण भर के लिए भी चैन नहीं पड़ता। उसका जीवन तो दु:खमय है, किन्तु उसके प्राण दु:खमय हैं। तात्पर्य यह कि जब राजा यह विचार करता है कि उसके जीवन में शशिवृता जैसी अनुपम सुन्दरी आयेगी तो वह अपने जीवन को धन्य समझता है, किन्तु जब उसे शशिवृता के अभाव का ध्यान आता है तो उसके प्राण छटपटाने लगते हैं, वह उद्विग्न होने लगता है। चौहानवंशी दिल्लीश्वर के दस सहस्र अश्वारोही घोड़ों पर चढ़ने लगे। राजा ने अश्वशाला के प्रमुख अधिकारियों को बुलाकर आज्ञा दी कि वीरों के लिये चढ़ने को विलहने घोड़े दिये जाने चाहिए।

विशेष—४९वें दूहे के 'हंस' और 'हंस' में यमक अलंकार है। पहले 'हंस' का अर्थ 'हंस पक्षी' है और दूसरे 'हंस' का अर्थ 'आत्मा' है।

॥ छंद भुजंगी ॥

दियौ कन्ह चहुआंन मानिक्क बाजी। जिनै देषतं चित्त की गत्ति लाजी॥
मुष मझ्झ पायं कढ़ै बाज राजं। मनों बमा भीषं कृतं कढ्ढिपाजं॥५१॥
दियौ बाजि इंदं बरं जाम देवं। दिपै तेज ऐसै चिरं पंष एवं॥
धरै पाइ ऐसे इलं मझ्झि जैसे। सुनै जैन ध्रंमं धरै पाइ तैसे॥५२॥
चढ्यौ राव कैमास चित्तं तुरंगी। रहै तेज पासं उछद्दंत अंगी॥
चमक्कतं नालं बिसालं खुरंगी। मनो बीज छब्बी कि आभा अनंगी॥५३॥
उड़े झार झारं पयं नाल झारी। समं बूंद धावैं मनौं चार तारी॥
चढ़े राजहंसं सुचामंड जोटं। मनो तेज बंधी मुनी बाइ मोटं॥५४॥
डुलै कंन नांही सिलीका सुग्रीवं। मनों जोति बंधी सुनिर्वात दीवं॥
चढ्यौ राज षीची प्रसंगं पहूपा। उड़ै बास ज्यों वाय वग्गै अनूपा॥५५॥
बंधै चोर चित्तं चमक्कंत [illegible] [illegible] [illegible] कि गंगा प्रवाहं॥

कढ्यौ राज पट्ट अजामंत बाहं। कही कव्विराजे उपम्मति चाहं ॥५६॥
दियै बीचतारी कोई नाहि पुज्जै। बलंतहि दिष्षै सरित्ता अमुज्झैं ॥
दियौ गग्गराजं चढ्यौ देवराजी। उडे पंखि पाजी रही पच्छ लाजी ॥५७॥
चढ्यौ निड्डुरं राइ अंगं अभंगं। छुट्टै जाति तारान के व्योम मग्गं ॥
चढ्यौ हाहुलीराइ जंबू नरिदं। वढ्यौ वांन ज्यौं तेज कम्मान चंदं॥५८॥
चढ्यौ लंगरी राव लंगा सुवीरं। किधौं वाय वढ्यौ बुअं जानि धीरं ॥
चढ्यौ राज गोइंद आहुट्ठ राजं। किधौं वाय वुंदं स छुट्टीय साजं ॥५९॥
चढ्यौ राव लष्णांसु लष्षंपंवारं। भ्रमें अंग ऐसे उपम्मा विचारं ॥
किधों अग्गि दंडं ब्रजं बाल फेरं। किधों भोर हथ्थं किधों चक्रहेरं। ॥६०॥
किधों राति वोहिथ्थभ्रमि भोरनारं। कही चंद कव्वी उपंमाति चारं ॥
चढ्यौ चंद पुंडीर राजीव नामं। तिनं ओपमा चंद देषीबिरामं ॥६१॥
जिनैं गत्ति जीतो सयन्नं पगारं। चली अंषि के पंप चित्तं बधारं ॥
चढ्यौ अत्त ताई उतंगं तुरंगा। मनौ बीज की गत्ति आभा अनंगा ॥६२॥
चढ्यौ राव रामं रघूवंस वीरं। गति सूर जित्ती मृगं चंद भीरं ॥
चढ्यौ दाहिमं देव नरसिंघ कैसे। मनौं चित्त की अर्थ की गत्ति जैसे ॥६३॥
चढ्यो भोज राजं पहारं त्रिनैतं। फुटै सद्द तेजं आवाजं त्रितेतं ॥
चढ्यौ वीर जोद्धं कनकं कुमारं। चली कृत्य पूरन्न आचार पारं ॥६४॥
चढ्यौ राव पज्जून कूरंभ वीरं। बढ़ै लोह अग्गं धनं जैतपूरं ॥
चढ्यौ सामलौ सूर सारंग ताजी। गही होड बंधी बयं वाम पाजी ॥६५॥
चढ्यो अल्हनं वीर बंधव्व पानं। चढ्यौ दान ज्यों ग्रहनं जुद्ध बानं ॥
चढ्यौ लष्षलष्षी सलष्षं बघेला। बढ्यौ नेत ज्यों देह देषैं सु हेला ॥६६॥
चढ़ै सव्व सामंत छल बलत बीरं। मनों भान छुट्टी किरन्नी कि तीरं ॥
चढ्यौ वाज राजं पृथीराजं राजं। तबै पष्षरयो बाज साकत्तिसाजं ॥६७॥
उडै सूरं ज्यों हंस तुट्ट कमंधं। वरं ओपमा चंद जपी कविंदं ॥
द्रुम ज्यों मरोरै शिरं स्वामी हेतं। मयूरं कलाबाज रची बंधि नेतं ॥६८॥
जगी जोगमाया सुजग्गीय थानं। प्रलीनं प्रलै ज्यो प्रलीनं पमानं ॥६९॥
जगे वीर बीराधि डीह बजावै। नचै नद्द नदी त्रिधाई त्रिधावै ॥छं॥७०॥

शब्दार्थ—कन्ह = कन्ह नामक सामन्त को । मानिक्कवाजी = माणिक्य नाम घोड़ा । देषतें = देखते ही । गत्ति = गति । लाजी = लज्जित हो जाती थी । मुषं = मुख के । मज्झ = मध्य, अन्दर । पायं = फेन, झाग । कढै = निकल रहा था । बाज राजं = श्रेष्ठ घोड़ा । वग्ग = वल्गा, लगाम । पाजं = पूजोपहार । बाजि इंदं = वाजीन्दु, श्रेष्ठ घोड़ा । जाम देवं = जामदेव, एक अन्य सामन्त का नाम । दिपै = चमकता था । पंष = पंख, पक्ष । पाइ = पैर । इलं = पृथ्वी । ध्रंमं = धर्म । कैमास = पृथ्वीराज के मन्त्री का नाम । चित्त तुरंगी = चित्रित (चितकबरे) घोड़े पर । उछ्छंत = उछालता था । अंगी = अवयवों को । खुरंगी = घोड़ा । अनंगी = कामदेव की । झार झारं = अग्नि-स्फुलिंगों की राशि । पयं = पद, पैर । झारी = झाड़ने पर, झटकने पर । समं = साथ । वूंदं = वृन्द, समूह । चामंड = चामुण्डराय । जोटं = जोड़ा, दो भाई । मुनी = मुनि, ऋषि । वाइ = वायु । मोटं = गठरी । कंन = कान । सिलीका = शिलावत् । सुग्रीवं = सुन्दर ग्रीवा । जोति = ज्योति, अग्निशिखा । सुनिर्वात = वायु-रहित । दीवं = दीपक । प्रसंगं पहूपा = पुहुपों (पुष्पों) के सम्पर्क से । चौंर = चँवर । प्रवाहं = धारा । पट्टं = प्रमुख, (सामन्त) । अजानन्त वाहं = आजानु भुजाओं वाला । अति चाहं = अति चाहना से, बड़ी इच्छा से, बड़ी अभिलाषापूर्वक । पुज्जै = समता कर सकता है । सरित्ता = सरिता, नदी । अमुज्झै = समुद्र की ओर । मृग्गराजं = मृगराज, घोड़े का नाम । देवराजी = देवराय । पच्छ = पक्षी । अभंगं = भंगिमापूर्वक । तारान = तारे । व्योम मग्गं = आकाश-मार्ग । हाहुलीराइ = हाहुलीराय, एक अन्य सामन्त का नाम । जंबू नरिंदं = जम्बू प्रदेश का राजा । बांन = बाण । लंगरीराव = लंगरराय । लंगा = लंका । सुवीरं = श्रेष्ठ वीर । वुप्रं जानि = प्रभंजन । राज गोइंद = गोविन्दराय । आहुट्ठ राजं = आहुड़ का राजा । वुंदं = वृन्द, समूह । राव लष्षं = लक्ष्मण-राय । लष्षं = लाखों में एक वीर । पवारं = परमारवंशी । व्रजं बाल—व्रज की गोपियाँ । अग्नि दंडं = अग्निदण्ड । हेरं = दिखाई देता है । राति = रक्त वर्ण क । बोहिथ्थ = जहाज । नारं = जल । उपंमा = उपमा । अति चारं = अति चारु, बहुत सुन्दर । चंद = चन्द्रमा के समान कान्ति वाला । पुंडीर = पुण्डीर-राय, एक अन्य सामन्त । राजीव नामं = राजीव नामक घोड़े पर । तिनं =

उसकी । ओपमा = उपमा । बिरामं = रुकी हुई अर्थात् न पायी गयी । सयन्नं पगारं = नदी की भाँति उमड़ती हुई सेना । अंषि के पंष = आँख मारते, पल भर में । चित्त बघारं = चित्त को विस्मित करती हुई । अत्त ताई = आततायी, आर्तराय । उतंगं = ऊँचे । तुरंगा = घोड़े पर । बीज = विद्युत्, विजली । आभा = कान्ति, चमक-दमक । राव रामं = रामराय । भीरं = अनेकों । दाहिमं देव = दाहिमदेव, एक अन्य सरदार । पहारं त्रिनैतं = त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकर के पर्वत कैलाश की भाँति उच्च (घोड़ा) । सद्द = शब्द से । त्रितेतं = त्रिगुणी, तीन गुनी । कनक्कं कुमारं = कनक कुमार, एक अन्य सरदार । राव पज्जून = पज्जूनराय । कूरंभएक = अन्य सरदार का नाम । अग्गं = आगे । धनं = धनी, वीर धनी । जैतपूरं = जैतकुमार, एक अन्य सरदार का नाम । सारंग ताजी = ताजी घोड़ा । वयं वाम पाजी = तीव्र गति से उड़ने वाले युवा वाज । वंधव्व = सज्जित होकर । दान = दानी कर्ण । लष्षलष्षी = लाखों में एक वीर । सलष्षं = एक लाख सेना-सहित । नेत = चादर, द्रौपदी का चीर । सव्व = सर्व । छल बलत = छल बल से युक्त । किरन्नी कि तीरं = तीर के समान किरणें । बाज राजं = सर्वश्रेष्ठ घोड़े पर । पष्षरयो = लड़ाई के समय हाथी घोड़ों को पहनायी जाने वाली लोहे की झूल डाली गयी । साकत्तिसाजं = शक्ति का भण्डार । कमंधं = धड़, किन्तु यहाँ पर इसका अर्थ 'समूह' होना चाहिये । जंपी = कही । कविंदं = कवीन्द्र, कविश्रेष्ठ । द्रुमं = वृक्ष । वंधि नेतं = पिच्छों की चादर फैला रखी हो । जोगमाया = काली । सुजग्गीय थानं = युद्धस्थल । वीराधि = श्रेष्ठ वीर । डोरू = डमरू । नद्द = नाद करता हुआ । त्रिधाइ त्रिधावै = आनन्दित हो-होकर ।

प्रसंग—इन वीस छन्दों में कवि ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का आश्रय लेकर पृथ्वीराज के सामन्तों तथा उनके घोड़ों का बड़ा सजीव चित्र उपस्थित किया है। कवि ने उन प्रमुख-प्रमुख वीरों के नाम गिनाये हैं जो अपने प्राणों को स्वामी के लिए समर्पित करने को सदैव प्रस्तुत रहते हैं ।

व्याख्या—चौहानवंशी कन्ह को माणिक्य नामक घोड़ा दिया गया, जिस घोड़े को देखकर चित्त की गति लज्जित हो जाती है। विश्व में सबसे तेज गति मन की मानी गयी है। यदि हमने कोई स्थान देखा है तो वह चाहे

कितनी ही दूर क्यों न हो, मन पल मारते ही वहाँ पहुँच जाता है, किन्तु कवि का विचार है कि माणिक्य नामक घोड़े की गति इतनी तीव्र है कि गति की इतनी तीव्रता मन के भी पास नहीं। वल्गा को बलपूर्वक खींचने से उस श्रेष्ठ घोड़े के मुख से जो झाग निकल रहे हैं, वे ऐसे प्रतीत हो रहे हैं जैसे मानो पूजोपहार हों। श्रेष्ठ वीर जामदेव को वाजीन्दु दिया गया। वह घोड़ा अपने तेज से ऐसा चमक रहा था, जैसे मानो उसके पंख ही लगा दिये गये हों। वह पृथ्वी पर इतनी सावधानी से पैर रखता है जैसे मानो कोई व्यक्ति बड़ी साव-धानी से जैन धर्म का श्रवण कर रहा हो और उसे अपने हृदय में धारण कर रहा हो। कैमास मन्त्री ऐसे चित्रित घोड़े पर सवार हुआ जिसके पास तेज प्रभूत मात्रा में था और इसीलिये वह अपने अवयवों को प्रतिक्षण उछाल रहा था। उस विशालकाय घोड़े के नाल इस प्रकार चमक रहे थे जैसे मानो बिजली की चमक हो अथवा मानो कामदेव की कान्ति झलक रही हो। जब वह घोड़ा अपने नालयुक्त पदों को पटकता था तो उससे अग्निस्फुल्लिगों का समूह निकलता था। उसके चारों पैरों की गति इतनी तीव्र थी जैसे मानो चार पुच्छल तारों का समूह तीव्रता से टूट रहा हो। चामुण्डराय और उसका भाई राजहंस पर सवार हुए। उस अश्व को देखकर ऐसा प्रतीत होता था जैसे मानो किसी तेजस्वी मुनि ने प्राणायाम की साधना कर वायु का गट्ठर बाँध दिया हो। कहने का आशय यह कि वह घोड़ा तूफान के समान दौड़ता था। वह अश्व इतना सावधान था कि प्रत्येक समय कानों को खड़े किये रहता था, उसके कान यत्किञ्चित्मात्र भीं नहीं हिलते थे। उसकी ग्रीवा शिलावत् हो रही थी, अर्थात् वह घोड़ा एकदम सजग था। उसकी ग्रीवा देखकर ऐसा प्रतीत होता था, जैसे मानो निर्वात दीपक की ज्योति हो, जो न इधर हिलती है, न उधर डुलती है वरन् एकदम सीधी रहती है। ऐसे सुन्दर घोड़े पर चामुण्डराय चढ़ा और उसकी अनुपम लगाम खींची। पुष्पों के सम्पर्क से वायु में सुगन्धि फैल रही थी। इससे यह विदित होता है कि वे वीर केवल युद्ध करने वाले हृदयहीन योद्धा ही न थे, अपितु सहृदय भी थे, जो विश्व की सुन्दर वस्तुओं के प्रति अपने हृदय में कोमल भावनाएँ भी रखते थे। घोड़े के मस्तक पर चँवर बँधा हुआ था, जो इस प्रकार चमक रहा था जो मानो चित्त की चाहना

हो, अथवा वह इस प्रकार दिखाई दे रहा था जैसे मानो हरिद्वार में गंगा की निर्मल धारा वेग से प्रवाहित हो रही हो। इस प्रकार वह जानुपर्यन्त भुजाओं वाला चामुण्डराय निकलकर बाहर आया। कहा जाता है कि जिनकी भुजाएँ जानुपर्यन्त होती हैं, वह अनुपम वीर होता है। कविराज चन्द बड़े उमंगपूर्वक उसकी तुलना कर रहे हैं। विश्व में ऐसा कोई वीर नहीं, जो उसकी बराबरी कर सके। उसका बल उस सरिता के तुल्य है जो सरिता अम्बुधि में मिलन-प्राय होती है। समुद्र के पास आकर नदी का वेग बहुत बढ़ जाता हैं और वह बड़े वेग से बहतीं हुई समुद्र में जाकर मिल जाती है। ठीक उसी नदी के समान चामुण्डराय का वेग है। निड्डुराय बड़ी भंगिमापूर्वक अपने अवयवों को हिलाता हुआ घोड़े पर सवार हुआ। उसके अन्दर इतनी तीव्रता थी जितनी तीव्रता आकाश-मार्ग में टूटते हुए तारों में होती है। जम्बू प्रदेश का राजा हाहुलीराय अपने घोड़े पर इस प्रकार चढ़ा जैसे मानो चन्द्र के समान आकार वाले धनुष से बाण बड़ी तीव्रता से छूट रहा हो। लंका का श्रेष्ठ वीर लंगरीराय इतनी तेजी से अपने घोड़े पर चढ़ा जैसे मानो वायु का प्रभंजन आगे बढ़ रहा हो। आहुड़राज गोविन्दराय इस प्रकार अपने घोड़े पर चढ़ा जैसे मानो वायु का बवण्डर अपने पूरे साज-बाज के साथ छूटा हो। लाखों में एक ही वीर परमारवंशी लक्ष्मणराय अपने घोड़े पर सवार हुआ। वह अपने शरीर को इस प्रकार घुमा रहा था, जैसे मानो व्रज की गोपियाँ अग्निदण्ड को अपने हाथ में लेकर घुमा रही हों। कभी वे उस अग्निदण्ड को हाथ में पकड़कर रोक लेती हैं और कभी उसे घुमाकर उसमें एक चक्राकृति पैदा कर देती हैं। जिस प्रकार एक अग्निदण्ड के घुमाने पर गोल आकृति बन जाती है, किन्तु रोक लेने पर वह एक दण्डमात्र ही रह जाता है, ठीक उसी प्रकार लक्ष्मणराय जब घोड़े पर चढ़ा तो उसमें उतनी ही तीव्रता आ गयी, जितनी घुमाते समय अग्निदण्ड में आ जाती है और जब वह खड़ा होता है तो इतना निष्पन्द हो जाता है जितना निष्पन्द वह अग्निदण्ड जो कोई चालन की क्रिया न करके हाथ में स्थिर हो अथवा मानो रक्त वर्ण का जहाज जल में चक्कर काटता हुआ घूम रहा हो। इस प्रकार कवि चन्द बड़ी-बड़ी सुन्दर उपमाओं का सृजन कर रहा है। चन्द्रमा के समान कान्ति वाला पुण्डीरराय राजीव नामक घोड़े

पर चढ़ा। उसकी उपमा तो कवि चन्द को कहीं मिली ही नहीं। पृथ्वीराज की उस सेना ने नदी की भी गति पर विजय पा ली थी। क्षण भर में चित्त को विस्मित करती हुई वह सेना चल दी। आततायी आर्तराय उच्च घोड़े पर सवार हुआ। उसकी तीव्रता में बिजली जैसी गति थी तथा कान्ति कामदेव के समान थी। रघुवंश वीर रामराय ऐसे घोड़े पर चढ़ा, जिसने अनेकों सूर्य, चन्द्र तथा मृगों की भी गति पर विजय पा ली थी। नरसिंह दाहिमदेव ऐसे तीव्र-गामी घोड़े पर सवार हुआ, जिसने मन की भी गति पर विजय प्राप्त कर रखी थी। लक्ष्मी जिसे चंचला कहा जाता है, उसकी भी गति उसके समक्ष कुछ न थी। भोजराज त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकर के पर्वत कैलाश के समान विशाल अश्व पर चढ़ा। उसके शब्दों में तेज फूट-फूटकर निकल रहा था, अर्थात् उसकी वाणी में ओज था। उसकी आवाज साधारण व्यक्ति की आवाज की तीन गुनी थी। तदनन्तर वीर योद्धा कनककुमार अपने घोड़े पर सवार हुआ। उस कनककुमार ने इतने वीरतापूर्ण कार्य किये थे, जिनका आर-पार पाना ही कठिन है। पज्जूनराय तथा वीर कूरम्भ अपने-अपने घोड़ों पर चढ़कर लोह-दण्ड के समान आगे आकर खड़े हो गये। इसके पश्चात् वीरधनी जैनकुमार घोड़े पर बैठा। श्यामल वीर ऐसे ताजे घोड़े पर बैठा, जिसने तीव्र गति से उड़ने वाले युवा बाजों से होड़ बाँध रखी थी। वीर अल्हन सज्जित होकर इस प्रकार घोड़े पर सवार हुआ, जैसे मानो युद्ध करने के लिये धनुष-बाण धारण करके दानी कर्ण आगे बढ़ा हो। लाखों में एक वीर बघेलाराय एक लाख सेना लेकर अश्वारूढ़ हुआ। उसकी सेना द्रौपदी के चीर के सदृश आगे बढ़ने लगी। उस सेना का ओर-छोर पाना बड़ा ही कठिन कार्य था। उस बघेलाराय के शरीर को देखने से ही भय होता था। छल-बल से पूर्ण सभी वीर सामन्त अपने-अपने अश्वों पर आरूढ़ होकर आगे बढ़े। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था, जैसे मानों सूर्य तीर के समान प्रखर अपनी किरणों को छोड़ रहा हो। आशय यह कि उन वीरों में सूर्य की किरणों की भाँति प्रखरता थी। सभी सामन्तों के अश्वारूढ़ हो जाने के पश्चात् राजा पृथ्वीराज अत्युत्तम घोड़े पर सवार हुआ। शक्ति के भण्डार उसके घोड़े पर पाखर (युद्ध के समय हाथी, घोड़े को पहनायी जाने वाली लोहे की झूल) डाली गयी। उस घोड़े की गति

सूर्य के समान थी। वेग में वह अश्व ऐसा था, जैसे मानो हंसों का समूह टूट रहा हो। कवीन्द्र (इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'पृथ्वीराज रासो' के 'आदि पर्व' में चन्द वरदाई कई श्रेष्ठ कवियों की वन्दना करता है, किन्तु अपने को भी कोई छोटा कवि नहीं समझता। 'आदि पर्व' में वह कहता है—'सरस काव्य रचना रचौं। खल जन सुनि न हसन्त ॥ जैसे सिन्धुर देखि मग, स्वान सुभाव भुसन्त ॥'' वह 'सरस काव्य' रचने की वात कहता है तथा अपने को सिन्धुर तुल्य वताता है) चन्द सुन्दर-सुन्दर उपमायें दे रहा है। पृथ्वीराज के सभी सामन्त ऐसे हैं जो स्वामी के लिये अपने सिर को उसी प्रकार काटने को उद्यत हैं, जिस प्रकार हाथी साधारण से वृक्ष को तोड़-मरोड़ डालता है। उन सभी ने मिलकर ऐसा घनाकार व्यूह वना रखा है, जैसे मानो कलावाज मयूर ने अपने पिच्छों की चादर फैला रखी हो। युद्ध-स्थल में काली जाग्रत हो गयी। विना प्रलय के ही प्रलय दृष्टिगोचर होने लगा। पृथ्वीराज के उन श्रेष्ठ वीरों के सज्जित हो जाने पर भगवान् शंकर ताण्डव नृत्य कर अपना डमरू वजा रहे हैं तथा नन्दी आनन्दित हो-होकर शब्द कर रहा है।

विशेष—कवि ने वीरों के प्रशस्ति-गान में कोई कसर वाकी नहीं रखी है। उसने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का आश्रय लिया है। वर्णन में कवि ने एक ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत किया है, जैसे मानो पृथ्वीराज की सेना हमारे नेत्रों के समक्ष ही सज रही हो।

॥ दूहा ॥

आगम निगम जानि कँ। चलि अप सुक्रंवार ॥
माह वद्दि पंचमि दिवस। चढ़ि चलिये तुर तार ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ—आगम निगम = गमनागमन। जानि कँ = जानकर, सोचकर, मुहूर्त दिखलाकर। सुक्रंवार = शुक्रवार। माह = माघ। वद्दि = वदी, कृष्ण पक्ष। पंचमि = पञ्चमी। तुर = तुरंग, घोड़ा। तार = शीघ्रगामी।

प्रसंग—यहाँ पर शुभ समय में पृथ्वीराज के प्रयाण का वर्णन है।

व्याख्या—गमनागमन का मुहूर्त दिखलाकर राजा माघ मास के कृष्ण पक्ष की पञ्चमी शुक्रवार के दिन शीघ्रगामी अश्व पर सवार होकर (दक्षिण दिशा की ओर) चल दिया।

विशेष—प्रस्तुत दूहे से यह विदित होता है कि प्रत्येक कार्य के लिए मुहूर्त दिखलाने की बात केवल साधारण जनता में ही प्रचलित न थी, वरन् राजे-महाराजे भी अपने प्रयाण आदि के समय मुहूर्त दिखलाया करते थे।

॥ छंद त्रोटक ॥

कवि चंद सु ब्रंनन राज करं। सोइ त्रोटक छंद प्रमाण धरं ॥
जिहि च्यार परे सगना सगनं। सुभ अच्छिर लाइ तजै अगनं ॥७२॥
विवहार धरै वरनं सु बरं। पढ़ि पिंगल वाहन केन हरं ॥
वर चोजन चारु सुरंग इलं। तहां झौर न मौर सुरंग मुलं ॥७३॥
गज उप्पर ढाल ढलक्कि तरं। सुकहो तहां केलि अचिज्ज बरं॥
तहां पल्लव लल्लित रत्त वचं। तहां जै धन दंतिय पंति रचं ॥७४॥
झमकै बरं नंग मयूष कसी। निकसी तहां केतक सी विकसी ॥
सु चलं बर मंद सुगंध प्रकार। वढ़ी दिसि दस्स स उज्जल मार ॥७५॥
वजै महु रंग सगंधन भ्रंग। वजं सहनाई नफेरि उपंग ॥
हलै वर लत्त पवन्न झकोर। घरध्धर होहि पिलप्पित जौर ॥७६॥
बुलै कल कंठ सु कंठह सद्द। तहां च कव्वि वसीठ उवद्द ॥
सकसे कुसंम रु अंकसु पानि। हने हर काम असौ गज जाति ॥७७॥
अतसी वर पुप्फसु वाढहि भृंग। वजै गज पांनि सु दुव रंग ॥
लता ललिताह हलवान ढाल। उतह जम लग्गय रूपतिताल ॥७८॥
विकसित केसर कुकुम कांम। सरौज सुरभ अनूपम नांम ॥
उहां मिटि ताम तरंगिनि काम। उहां चलि ते निय ना तिहि ठांम ॥७९॥
उहा बरहा जनु उप्परि केल। किने तव ढीठ हिया छवि मेल ॥
हलै जनु नेजै षजूर वसंत। ढली बनराइ सुढालह मंत ॥८०॥
तजी वर बाल सुरंग सभेस। चल्यौ प्रथिराज सो दष्षिन देस ॥
विरदै चहु विप्र कहै कविचन्द। सही चहुआँन प्रथी पर इंद ॥ ८१ ॥

शब्दार्थ—ब्रंनन = वर्णन। राज कर = राजा का। धरं = धरता हूँ, रखता हूँ। च्यार = विचार। सगना सगनं = शकुनापशकुन। सुभ अच्छिर = शुभ अक्षर, शुभ मुहूर्त। अगनं = आंगन, प्रांगणा, घर। विवहार = व्यवहार।

वरनं = वरण करने योग्य। वरं = वरता है, पाता है। बाहन केर हरं = भगवान् शंकर का वाहन नन्दी, लाक्षणिक अर्थ होगा नान्दी पाठ। चोजन = चमत्कारपूर्ण। सुरंग = सुन्दर रंगों वाली अर्थात् प्रफुल्लित। उप्पर = ऊपर। ढलक्कि तरं = नीचे की ओर लटक रही हैं। सुकहों = वह वर्णन करता हूँ। केलि = क्रीड़ा। अचिज्ज = आश्चर्यपूर्ण। पल्लव = पत्ते। लल्लित = ललित, सुन्दर। रत्त वचं = रक्त वर्ण के। दंतिय पंति = हाथियों की पंक्तियाँ। रचं = रची हुई थीं, खड़ी हुई थीं। नंग = नग। मयूष कसी = मयूराकार। दिसि = दिशाएँ। दस्स = दस। उज्जल = उज्ज्वल। मार = कामदेव। मह रंग = मृदंग। सगंधन = गन्धयुक्त। नफेरि = नफेरी। उपंग = एक प्रकार का वाद्य-विशेष। लत्त = लताएँ। पवन्न = पवन, वायु। घरघ्घर = घर-घर का शब्द। पिलप्पित = पीलवान, महावत। कंठह = कण्ठ से। सद्द = शब्द, ध्वनि। बसीठ = बसीठी, हरकारा। उबद्द = बोलता था। सकेस कुसंभ = सुगन्धित केश। पानि = हाथ। हर = भगवान् शंकर। काम = कामदेव। असो = ऐसे। अनसी = अधिक। पुफ्फ = पुष्प, फूल। ललिताह = हिलना। हलावन = हिलाना उलह = अथवा। कांम = भरपूर। सरोज = कमल। सरंम = सुरभि, सुगन्ध। बरहा = वाराह। बनाराइ = वनराजि, वन-वृक्षों की पंक्ति। बरबाल = सुन्दरी स्त्रियाँ = सुभेस = सुन्दर वेश वाली। दष्षिन = दक्षिण। चहुं = चारों ओर। प्रथी = पृथ्वी।

प्रसंग—यहाँ पर कवि वसन्त का एक चित्र उपस्थित करता है।

व्याख्या—अब कवि चन्द त्रोटक छन्द का अवलम्बन लेकर राजा पृथ्वीराज का वर्णन कर रहा है। कवि का कथन है कि जो व्यक्ति शकुनापशकुन का विचार करके शुभ मुहूर्त में ही अपने घर का परित्याग करता है, तथा जो पिङ्गल की विधि के अनुसार नान्दी-पाठ करके बाहर निकलता है उसे आगे के व्यवहार में प्राप्त करने योग्य सुन्दर वस्तु मिल जाती है। उसके लिये पृथ्वी चमत्कारपूर्ण तथा उल्लासपूर्ण दिखायी पड़ती है। वहाँ उसके लिए किसी भी प्रकार का विघ्न सामने नहीं आता, सर्वत्र सुन्दर वर्णों वाला प्रफुल्ल मौर ही मौर दिखायी देता है, अर्थात् उसे सभी स्थानों पर मङ्गल ही मङ्गल

है। पृथ्वीराज की सेना में हाथियों के ऊपर जो ढालें लटक रही हैं, उसका मैं सुन्दर एवं आश्चर्यपूर्ण वर्णन करता हूँ। वहाँ पर रक्त वर्ण के सुन्दर पत्ते दिखायी दे रहे हैं। वहाँ पर हाथियों की जो पंक्तियाँ खड़ी हैं, वे ही राजा का धन हैं। वीरों के जो मयूराकार नग चमक रहे हैं, वे ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, जैसे मानो केतकी के पुष्प विकसित हुए हों। वहाँ पर शीतल, मन्द सुगन्धित पवन वह रहा है, जो दसों दिशाओं में काम-वासना को उद्दीप्त कर रहा है। सुगन्धि के कारण एकत्र हुए भ्रमरों के समूह में मृदंग बज रहा है तथा अन्य अनेक प्रकार के वाद्य-यन्त्र, जैसे शहनाई, नफेरी, उपंग आदि बज रहे हैं। वायु झकझोर कर लताओं को हिला रहा है। पीलवान अपने जार में आकर जो हाथी हाँक रहे हैं, उससे हाथियों के दूसरे से चिपटने के कारण धरधर का शब्द हो रहा है। जिस प्रकार कलकण्ठी कोयल वसन्त ऋतु में अपने सुन्दर कण्ठ से बोलती है, उसी प्रकार वहाँ पृथ्वीराज की सेना में कवि हरकार सुन्दर शब्दों को बोल रहा था। पीलवानों के सुगन्धित केश हैं। उनके हाथों में अंकुश हैं। जब वे हाथियों को अंकुश से वश में करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मानो भगवान् शंकर कामदेव पर विजय प्राप्त कर रहे हों। पीलवानों के केश पुष्पों की गन्ध से अत्यधिक सुगन्धित होने के कारण झुण्ड के झुण्ड भ्रमर उनकी ओर बढ़े चले आ रहे हैं। जिन हाथों से वे हाथियों पर अंकुश बजा रहे हैं, वे हाथ रंग-विरंगे पुष्पों को धारण करने से चन्द्र-वर्ण के समान प्रतीत हो रहे हैं। वीर जो अपनी डालें हिला रहे हैं, वही ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मानों लताएँ हिल रही हों। वहाँ पर केसर तथा कुंकुम प्रभूत मात्रा में विकीर्ण की गयी है। कमलों की अनुपम सुगन्ध फैली हुई है। वहाँ पर क्रोध की भावनाएं मिट जाती हैं तथा तरंगिणी नदी की भाँति काम-वासनाएँ हृदयों में जाग्रत हो जाती हैं। उस स्थान पर प्रत्येक क्षण कटाक्ष होते रहते हैं। वहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मानो वाराहवतारधारी भगवान् विष्णु क्रीड़ा कर रहे हों। और अपनी दृष्टि को सौन्दर्यावलोकन में लगा दिया हो। सेना में वीर अपने-अपने नेजे इस प्रकार घुमा रहे हैं, जैसे मानो वसन्त ऋतु में खजूर का वृक्ष हो। ढालों की जो पंक्तियाँ हैं वे ही वन के वृक्षों की पंक्तियाँ सदृश प्रतीत होती हैं। सुन्दर वर्णों वाली तथा सुन्दर वेश वाली

कामिनियों को छोड़कर पृथ्वीराज दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े। कवि चन्द कहता है कि ब्राह्मणवर्ण चारों ओर से उसका यशगान कर रहा है। वस्तुतः चौहानवंशी राजा पृथ्वीराज पृथ्वी पर चन्द्र-तुल्य है।

विशेष—यद्यपि कवि ने रूपक बाँधने का यथाशक्ति प्रयास किया है, तथापि उसमें सफल नहीं हो सका।

॥ दूहा ॥

चढ्ढि चलिय प्रथिराज वर। देवग्गिरिधर राज ॥
तब सुकन्ह बरदाय वर। पुच्छिय विगत सुकाज ॥८२॥

शब्दार्थ—चढ्ढि चलिय—चढ़ कर चलने लगा। वरदाय—चन्द बरदाई। पुच्छिय—पूछा। विगत सुकाज—कार्य का ब्यौरा, कार्य का विवरण, विषय।

प्रसंग—राजा पृथ्वीराज एक ओर तो देवगिरि पर चढ़ाई करने जा रहा है, किन्तु उसके सामन्तों को अभी तक यही पता नहीं है कि पृथ्वीराज ने किसके राज्य पर चढ़ाई की है। इसीलिए काका कन्ह चन्द वरदाई से पूछते हैं कि यह बताओ कि राजा ने किस राजा पर चढ़ाई करने का विचार किया है।

व्याख्या—राजा पृथ्वीराज देवगिरि (देवास) की ओर चढ़कर चल दिया। तब काका कन्ह ने चन्द बरदाई से राजा की चढ़ाई के विषय में पूछा।

विशेष—उपर्युक्त दूहे से पृथ्वीराज एक कुशल सेनापति सिद्ध होता है। एक चतुर सेनापति अपनी सेना को पहले से यह कभी नहीं बताता कि उसे कहाँ पर किससे युद्ध करना है। यदि वह अपनी सेना को अपनी सब योजना बता दे, तो हो सकता है कि सेना का कोई व्यक्ति विश्वासघात करके शत्रु से मिलकर उसकी पूरी योजना बता दे और इस प्रकार उसकी योजना ही विफल हो जाए।

॥ कवित्त ॥

एक लष्ष दस अग्ग। सेन सज्जै कमधज्जं ॥
वीय सहस वारुन्न। सत्त हज्जार कयवज्जं ॥

अद्ध लष्प पैंदल्ल । अद्ध साइक्क वहंतं ॥
सजि समूह चतुरंग । दिशा दच्छिन परजंतं ॥
मुनि श्रवन कुंअरि शशिवृत्त लिय । सुनि अवाज वर वीर घन ॥
चहुआंन वृत लीनी अध्रम । प्राण हीन कढ्ढन सुमन ॥८३॥

शब्दार्थ—एक लष्ष दस अग्ग = सम्भवतः एक लाख दस हजार, जैसा कि आगे के वर्णन से भी सिद्ध होता है । सज्जे = सजायी । वीय = दो । बारुन = वारण, हाथी । सत्त = सात । फवज्जं = रथ । साइक्क वहंतं = सायकों को धारण करने वाले, बाणधारी । परजंतं = पर्यन्त, ओर । वीरं = वीरचन्द घन = गम्भीर । कढ्ढन = निकालने के लिए, आत्म हत्या करने के लिए ।

प्रसंग—यहाँ पर कमधज वीरचन्द की चतुरंगिणी सेना का वर्णन है । साथ ही साथ कवि यह भी बताता है कि पृथ्वीराज को पति रूप में प्राप्त करने की इच्छा वाली शशिवृता ने कमधज वीरचन्द को आया हुआ सुनकर आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया ।

व्याख्या—कमधज वीरचन्द एक लाख दस हजार सेना सजाकर शशिवृता से अपना विवाह रचाने चल दिया । उसकी सेना में दो हजार हाथी थे, सात हजार रथ, आधा लाख पदाति सेना तथा आधा लाख धनुर्धारी थे । इस प्रकार वीरचन्द अपनी चतुरंगिणी सेना को लेकर दक्षिण दिशा की ओर देवगिरि को चल दिया । शशिवृता ने वीर वीरचन्द के निसानों का गम्भीर घोष अपने कानों से सुनकर यह जान लिया कि वीरचन्द उसके साथ विवाह रचाने को आ गया है, किन्तु उसने तो चौहानवंशी पृथ्वीराज को ही पति-रूप में प्राप्त करने का व्रत ले रखा था, अतः वीरचन्द को आया जान वह अपने प्राण-प्रसूनों को अधर्म की गति से निकाल देना चाहती है । 'अधर्म' इसलिये कहा गया है कि हिन्दू-समाज में ही क्या, सभी धर्मों में आत्महत्या पाप मानी गयी है ।

विशेष—कवित्त की अन्तिम पंक्ति में कवि ने प्राणों में सुमनों की प्रतिष्ठा कर रूपक अलंकार का सुन्दर विधान किया है ।

टिप्पणी—कवित्त की पंचम पंक्ति में 'मुनि' पाठ न होकर 'सुनि' पाठ होना चाहिए ।

।। दूहा ।।

वाल प्रान कढ्ढत सुपुनि । सुगुन एक मन मान ।।
वढि अवाज चहुआँन की । अली सुन्यौ अप कान ।। ८४ ।।
यों सु सनिय अप भांन नं । पुत्रि प्रलय व्रत कीन ।।
चर पिष्षिय चहुआँन पै । जद्दव मोकल दीन ।। ८५ ।।

शब्दार्थ—वाल = वाला, कुमारी शशिवृता । सगुन = शुभ शकुन । मन मान = मनमाना, मनवाञ्छित । अली = वाला ने । अप = अपने । वढ़ि आवाज—बढ़ती हुई आवाज, कोलाहल । प्रलय व्रत = प्राण त्याग देने की प्रतिज्ञा । पिष्षिय = बुलवाकर । चर = दूत । जद्दव = यादवराज भान । मोकल दीन = भेज दिया ।

प्रसंग—जब राजा भान को यह विदित होता कि शशिवृता वीरचन्द से विवाह नहीं करना चाहती, और यदि उसका विवाह वीरचन्द से किया गया तो वह प्राणों का परित्याग कर देगी, तो राजा भान एक दूत को पृथ्वीराज के पास भेज देता है ।

व्याख्या—वीरचन्द को आया हुआ जानकर कुमारी शशिवृता अपने प्राणों का परित्याग करना ही चाहती थी कि इतने में उसे एक मनोवाञ्छित शुभ शकुन हुआ, उसने अपने कानों से चौहान राजा की सेना की बढ़ती हुई आवाज सुनी । जब राजा भान ने यह सुना कि यदि शशिवृता का विवाह वीरचन्द के साथ किया गया तो वह आत्महत्या कर लेगी, तब राजा ने एक दूत को बुलाकर उसे पृथ्वीराज के पास भेज दिया ।

विशेष—शशिवृता राजा भान के भाई पुन्ज की पुत्री थी, किन्तु राजा भान उसे पूर्णरूपेण अपनी पुत्री समझता था और उसी प्रकार उसने उसका लालन-पालन भी किया था, अतः वह अपनी पुत्री के मन के प्रतिकूल बात नहीं कर सकता था । वह वही कर सकता था, जिससे शशिवृता प्रसन्न रहे । वह केवल एक राजा ही नहीं था उसमें पिता के हृदय की कोमलता भी विद्यमान थी । यद्यपि वह शशिवृता का विवाह वीरचन्द से करना निश्चित कर चुका था, फिर भी अन्त में उसने एक कोमल हृदय पिता की भाँति अपनी मर्यादा का कोई ध्यान न रखकर पुत्री की ही इच्छा पूर्ण करने की ठान ली ।

Vasundhara Vasundhara Vasundhara Vasundhara Vasundhara Imp.

॥ कवित्त ॥

दूहूं पास नृप नयर। राग दिष्षै प्रति राजं ॥
मानों हथ्थ वर नयर। राग संमुह प्रति साजं ॥
कोट कठिन मेखल सु। कोटि द्रिग पलक उधारिय ॥
राज कित्ति संभरन। गोष श्रवनन संभारिय ॥
किंकिन सुपाइ घुंघर सु गज। राज निशान सबद्द प्रति ॥
चहुआंन राव आगम सुव्रत। कमल हीय वढ्ढिय सुरति ॥ ८६ ॥

शब्दार्थ—नयर = नगर, देवगिरि नगर। प्रति राजं = प्रत्येक राजा की। हथ्थ = हाथ। संमुह = समक्ष, सामने। साजं = सज्जित कर दिए हों। कोट = परकोटा, चहार दीवारी। मेखला = मेखला, करधनी। सुं = उस (नगर) की। कोटि = कंगूरे। द्रिग पलक = दृगों के पलक, नेत्रों के पलक। कित्ति = कीर्त्ति। संभरन = सुनने के लिए। गोष = गवाक्ष। संभारिय = तैयार कर लिया। सुपाइ = सुन्दर पैरों में। किंकिन = किंकिणी। घुंघर सु गज = हाथियों के पैरों की घण्टिकाएँ। सबद्द = शब्द, स्वागत शब्द। आगम = आगमन। सुव्रत = शशिवृता के। हीय = हृदय। वढ्ढिय—बढ़ गयी। सुरति—पति-विषयक प्रेम।

प्रसंग—यहाँ पर कवि-कल्पना द्रष्टव्य है। कवि ने बड़ा ही भव्य रूपक बांधा है। उसने देवगिरि नगर का मानवीयकरण करके उसे एक स्त्री-रूप में चित्रित किया है जो बाहर से लौटे हुए राजा रूप पति का अभिनन्दन करती है।

व्याख्या—जब दोनों राजा अर्थात् वीरचन्द और पृथ्वीराज देवगिरि नगर के समीप आ गये, तब नगर दोनों राजाओं में से प्रत्येक राजा की साज-सज्जा को बड़े ध्यानपूर्वक देख रहा है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानो देवगिरि नगर अपने दोनों सुन्दर हाथों को सज्जित करके, राजाओं से आलिंगन करने के लिए, उनके समक्ष बढ़ा रहा हो। नगर की जो सुदृढ़ चहारदीवारी है, वही मानो उस नगर रूपी रमणी की मेखला है। नगर के प्रासादों के जो कंगूरे हैं वे ही मानो उस रमणी के नेत्रों के पलक हैं, जिन्हें उघाड़कर वह राजाओं को देख रही हो। नगर-रूपी उस नायिका ने राजाओं की कीर्ति

सुनने के लिए अपने गवाक्ष रूप श्रोतों को सावधान कर रखा है। नगर के हाथियों के पैरों में जो घण्टिकाएँ हैं वे ही मानो उस नायिका के पैरों में पड़ी हुई किंकिणियाँ हैं। राजा भान के जो निसान बज रहे हैं, वे ही मानो उस नायिका के राजाओं के प्रति स्वागत-शब्द हों। जब शशिवृता को चौहान राजा पृथ्वीराज का आगमन विदित हुआ तो उसके हृदय कमल में पतिविषयक प्रेम बहुत अधिक मात्रा में बढ़ने लगा।

विशेष—प्रस्तुत कवित्त में सांगरूपक की मनोहारिणी छटा सहृदय पाठक के मन को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। कवि ने नगर के 'परकोटे' में 'मेखला' का, 'कंगूरों' में 'नेत्र-पलकों' का, 'गोषों' (गवाक्षों) में 'श्रवणों' का, हाथियों के 'घूँघरों' में 'किंकिणी' का, 'निसान' में स्वागत 'शब्द' का आधान किया है। कवित्त की निम्न पंक्ति में 'कमल हीय' भी सुन्दर रूपक बन पड़ा है।

टिप्पणी—कुछ लोगों का मन्तव्य है कि नगर-रूपी नायिका ने जो कुछ किया है वह केवल पृथ्वीराज की ही साज-सज्जा को देखने के लिए किया है, किन्तु यह बात कुछ तर्क-संगत नहीं जान पड़ती, क्योंकि कवित्त की प्रथम पंक्ति में ही 'दुहुं' शब्द आया है, जिसकी अब अवहेलना नहीं की जा सकती। यह शब्द स्पष्ट रूप से यह बताता है कि आगे जो कुछ किया जाने वाला है, वह दोनों ही राजाओं के लिए किया जाने वाला है, न कि अकेले पृथ्वीराज के लिए ही। साथ ही। साथ ही नगर के लिए तो दोनों ही राजा नवागन्तुक अतिथि हैं।

॥ दूहा ॥

यों करंत दुत्तिय वियौ। कथा श्रवण सुनि मंत ॥
जाको तैं पतिवृत्त लिय। सो आयो अलि कंत ॥ ८७ ॥
श्रवन नयन को मेल कै। भय चंचल चल चित्त ॥
श्रोतानं दिष्टानं अरु। मिलि पुच्छै दोइ मित्त ॥ ८८ ॥

शब्दार्थ—यों = इस प्रकार। करंत = करते हुए। दुत्तिय = द्वन्द्व।

बियौ = दोनों (नेत्र और कान)। पतिवृत्त = पातिव्रत्य। कंत = पति।

प्रसंग—अब शशिवृता में श्रोतानुराग और दृष्टानुराग दोनों ही उत्पन्न हो गए हैं, अतः उस कुमारी के कान तथा नेत्र दोनों ही में झगड़ा चल रहा है। दोनों अपने-अपने को एक दूसरे से अधिक ज्ञान वाला समझते हैं, अर्थात् श्रोत्र तो यह कहते हैं कि हम पृथ्वीराज के विषय में अधिक जानते हैं और नेत्र यह कहते हैं कि पृथ्वीराज के विषय में हम अधिक जानते हैं। अन्त में शशिवृता बहुत समझा-बुझा कर कानों तथा नेत्रों में मैत्री स्थापित करा देती है।

व्याख्या—इस प्रकार शशिवृता के नेत्र और कान परस्पर झगड़ा कर ही रहे थे कि उसी समय कानों ने शशिवृता से कहा—हे राजकुमारी! जिस पृथ्वीराज का तुमने पातिव्रत्य किया है वह तेरा पति पृथ्वीराज आ गया है। तात्पर्य यह कि शशिवृता के कानों में पृथ्वीराज के आगमन की खबर पड़ी। तदनन्तर वह चञ्चला कुमारी शशिवृता चञ्चल चित्त हो कानों तथा नेत्रों में मेल कराती हुई उन दोनों मित्रों से श्रोतानुराग तथा दृष्टानुराग का अन्तर पूछने लगी। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शशिवृता अज्ञातयौवना है, अतः उसे स्पष्ट रूप में यौवन का भान नहीं है। तभी तो वह मुग्धा श्रोता-नुराग और दृष्टानुराग में अन्तर पूछती है।

विशेष—शशिवृता की स्थिति उस नौका के समान है जो तूफान में पड़कर कभी इधर झुकती है तथा कभी उधर झुकती है। उसके हृदय में इस समय एक महान् द्वन्द्व चल रहा है। कभी उसे अपने नेत्रों पर विश्वास होता है तो कानों पर विश्वास नहीं और जब उसे अपने कानों पर विश्वास होता है तो नेत्रों पर नहीं। उसका हृदय बड़ा उद्विग्न है, किन्तु किसी प्रकार वह धीरे-धीरे अपनी उद्विग्नता पर विजय पाती है। यही नेत्रों और कानों का मेल है।

॥ चंद्रायना ॥

कर्ण प्रयंत कटाछ सुरंग विराजही।

कछु पुच्छन कों जाहि पै पुच्छत लाजही॥

नैन सैन में बात जु स्रवनन सों कहे ॥

काम किधों प्रिथिराज भेद करि ना लहै ॥ ८९ ॥

शब्दार्थ—कर्न प्रयंत = कर्ण पर्यन्त, कानों तक फैले हुए। कटाछ = कटाक्ष। सुरंग = सुन्दर। बिराजही = सुशोभित होते हैं। कछु = कुछ। पुच्छन = पूछने के लिए। लाजही = लजाते हैं। सैंन में = संकेत से। स्रवनन सों = कानों से। काम = कामदेव। लहै = प्राप्त कर ले।

प्रसंग—शशिवृता के बड़े-बड़े नेत्रों का वर्णन ही कवि को अभीष्ट है।

व्याख्या—शशिवृता के सुन्दर नेत्र उसके कानों तक फैले हुए हैं। वे कानों से कुछ पूछने के लिए जाते हैं, किन्तु पूछते हुए लजाते हैं। कवि के कहने का आशय यह है कि शशिवृता के जो नेत्र कानों तक फैले हुए हैं वह उनका फैलाव नहीं है, वरन् वे कानों से पृथ्वीराज के विषय में पूछने के लिए उन्हीं (कानों की) दिशाओं में जा रहे हैं, क्योंकि कानों ने तो पृथ्वीराज के विषय में बहुत कुछ सुन रखा है, किन्तु उन्हें कुछ पूछते हुए लज्जा आती है। स्मरण रहे, मुग्धा नायिका में लज्जा पर्याप्त मात्रा में होती है। वह अपने प्रिय के विषय में किसी से पूछते हुए बहुत सकुचाती है। नेत्र संकेत ही संकेत में श्रवणों से बात कर रहे हैं। उन्हें डर है कि कहीं कामदेव पृथ्वीराज से सम्बन्धित भेद को न जान ले। तात्पर्य यह है कि अज्ञातयौवना काम-विषयक बातों से घबराती सी है, यद्यपि ऐसी बातों से उसके हृदय में भी गुदगुदी पैदा होती है।

विशेष—यहाँ पर कवि व्याजोक्ति अलंकार का अवलम्बन लेकर शशिवृता के नेत्रों की प्रशंसा करना चाहता है। कवि का अभीष्ट विषय यह नहीं कि नेत्र कानों से सम्भाषण करना चाहते हैं, वरन् उसका अभीष्ट विषय तो नेत्रों की विशालता बतलाना ही है। नेत्रों का कर्णों से सम्भाषन तो नेत्रों की विशालता निवेदन करने का माध्यम है। एक अन्य स्थान पर एक हिन्दी का कवि राधा की बड़ी-बड़ी आँखों की प्रशंसा करना चाहता है अतः वह कृष्ण से कहलाता है—'अँखिमूँदनी संग तुम्हारे न खेलि हैं, कानन लौं अँखियाँ हैं तिहारी, अर्थात् कृष्ण राधा से कहते हैं कि हम तुम्हारे साथ आँख-

मिचौनी नहीं खेलेंगे, क्योंकि तुम्हारे नेत्र तो काणों तक फैले हुए हैं और हमारी हथेलियाँ छोटी-छोटी हैं। हमारी हथेलियों से तुम्हारे नेत्र ढके ही नहीं जाते, पूरा प्रयास करने पर भी खुले रह जाते हैं और तब तुम सबको छिपते हुए देख लेती हो। यहाँ पर भी कवि आँख-मिचौनी के बहाने राधा की बड़ी अँखियों की ही प्रशंसा करना चाहता है। सौन्दर्य-शास्त्र में बड़ी आँखों का बहुत महत्त्व है।

॥ दूहा ॥

नैन श्रावन्नन पूछई। तुम जानो बहु मंत ॥
मेरे जीय अंदेश है। कही न मैं पिय जंत ॥ ९० ॥
श्रवनन सन नैनन कहीं। तुम जानौ चहुआँन ॥
काम नृपति को रूप धरि। आवत है इन थाँन ॥ ९१ ॥
ताम हंस आयो समषि। कह्यो अहो शशिवृत्ता ॥
चाहुआंन आयो प्रछन। मिलन थांन हर सित्त ॥ ९२ ॥

शब्दार्थ—श्रवनन = श्रवण, कान। बहु मत = अनेक मन्त्रणायें, अनेक बातें। जीय = हृदय, चित्त। अन्देस = अन्देशा, शक, शंका। कही = किसी दूसरी सुन्दरी की ओर। न मैं = नम जाय, झुक जाय। पिय = प्यारा पृथ्वीराज। जंत = जाय। सन = से। काम = कामदेव। इन = इस। थांन = स्थान। ताम = तब ही, उसी समय, इतने में ही। संमषि = समक्ष, सामने। हंस = हंस दूत। प्रछन = प्रच्छन्न रूप में, गुप्त रूप में। हर सित्त = हर सिद्धि।

प्रसंग—शशिवृता के मत में अनेक प्रकार के बिचार-विमर्श उठ ही रहे थे कि इतने में हंस आकर उसे यह बताता है कि तुम्हारा पृथ्वीराज से मिलन हरसिद्धि नामक स्थान पर होगा।

व्याख्या—शशिवृता के श्रवण नेत्रों से पूछते हैं—हे नेत्रो ! तुम पृथ्वीराज के विषय में बहुत अधिक जानते हो। हमारे चित्त में यह आशंका है कि कहीं वह प्यारा पृथ्वीराज किसी दूसरी सुन्दरी की ओर आकृष्ट न हो जाय। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब एक स्त्री अथवा पुरुष किसी दूसरे पुरुष अथवा

स्त्री से प्रेम करते होते हैं तो वे यह नहीं चाहते कि उनका प्रिय किसी दूसरे से प्यार करे। ठीक यही स्थिति शशिवृता की है। शशिवृता पृथ्वीराज से इतना प्रेम करती है कि वह यह नहीं चाहती कि उसका प्रियतम पृथ्वीराज किसी दूसरी सुन्दरी की ओर आकृष्ट हो जाय। श्रवणों के प्रश्न का उत्तर देते हुए नेत्र कहने लगे—तुम तो पृथ्वीराज को जानते ही हो। वह वस्तुतः राजा नहीं है, वरन् स्वयं कामदेव ही राजा का रूप धारण कर इस स्थान पर आ रहा है। पृथ्वीराज को राजा न बताकर कामदेव का अवतार बताना उसके (पृथ्वीराज के) अत्यधिक सुन्दर होने का ही परिचायक है। शशिवृता के कर्णों एवं नेत्रों में इस प्रकार वार्तालाप चल ही रहा था कि इतने में ही हंस दूत शशिवृता के समक्ष आकर उपस्थित हो गया और उससे कहने लगा—हे शशिवृते! चौहनवंशी पृथ्वीराज गुप्त रूप से (जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट हो जायेगा) आया हुआ है तथा वह तुमसे हरसिद्धि नामक स्थान पर मिलेगा।

विशेष—शशिवृता के अन्तर्द्वन्द्व का कवि ने बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित किया है।

॥ कवित्त ॥

घेरी गांम जद्दव नरिंद। उम्भे चिहुं पासं ॥
पल नंषिय रंभा सु। करन आरंभ प्रवासं ॥
एक एक गुन करहि। सब्ब फूले सत पत्त ॥
तिन मध्यम शशिवृत्त। भई कम्मोदनि मंत्त ॥
पित पुच्छि पुच्छि परिवार सब। पुच्छि बंध रज्जन सकल ॥
आवृत तात अग्या सुग्रहि। भइय बाल बुध्या विकल ॥१३॥

शब्दार्थ—गांम = ग्राम, देबास। जद्दव नरिंद = यादवराज भान। उम्भे = उमड़ पड़े, छा गये। चिहुं पासं = चारों ओर। पल नंषिय = पलकें डालीं, दृष्टि डाली। प्रवासं = प्रवास, अन्य स्थान में जाने को, युद्धभूमि में अवतरित होने को। गुन करहि = गुण करने वाले, हित चाहने वाले। सब्ब = सब, सर्व, सभी। सत पत्त = शतपत्र, कमल। तिन मध्यम = उनके बीच में। कम्मोदनि = कुमोदिनी। मंत्त = समान। पित = पिता। पुच्छि = पूछकर। बंध रज्जन = राजा का बन्धुवर्ग। आवृत = बार-बार। अग्या = आज्ञा। सुग्रहि = ग्रहण कर,

लेकर । बाल = बाला, राजकुमारी । बुध्या = बुद्धि से । विकल = व्याकुल ।

प्रसंग—पृथ्वीराज के वीर सामन्त देवगिरि को चारों ओर से घेरे लेते हैं । शशिवृता के स्वजन उसका मंगल जानकर प्रसन्न होते हैं, किन्तु शशिवृता उस विषम परिस्थिति पर दृष्टिपात कर व्याकुल हो जाती है ।

व्याख्या—चौहान राजा पृथ्वीराज के वीर सरदार यादवराज भान के नगर देवास को चारों ओर से घेर कर छा गये । युद्धभूमि में अपना आवास-स्थल बनाने की इच्छा से रम्भा ने देवगिरि पर अपनी दृष्टि डाली । स्मरण रहे, चित्ररेखा रम्भा की प्रिय सखी थी और शशिवृता चित्ररेखा का अवतार थी, इसलिये रम्भा भला अपनी प्रिय सखी के विवाहोत्सव पर आना कैसे भूल सकती थी । कुमारी शशिवृता के जितने भी हितैषी थे वे सब राजकुमारी का मनोरथ सफल होते देखकर कमल के पुष्प-सदृश प्रफुल्लित हो गये, किन्तु उनके बीच में शशिवृता की स्थिति कुमोदिनी पुष्प की भाँति थी । जिस प्रकार कमल को विकसित देखकर कुमोदिनी नहीं खिल सकती, उसी प्रकार एक तो गुरुजनों की लज्जा के कारण और दूसरे स्थिति की विषमता (क्योंकि कमधज—जयचन्द भी वहाँ आ चुका था) के कारण शशिवृता का हृदय प्रसन्न नहीं था । उसने अपने पिता, परिवार तथा राजा के समस्त बन्धुवर्ग से हरसिद्धि नामक स्थान पर जाने के विषय में पूछकर अपने पिता से बार-बार आज्ञा प्राप्त की । उस समय वह राजकुमारी अपनी बुद्धि से बहुत अधिक व्याकुल थी; उस समय उसकी बुद्धि किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गई थी ।

विशेष—कवि ने शशिवृता के हितैषियों की कमल से तथा शशिवृता की कुमोदिनी से तुलना करके उपमा अलंकार की योजना की है ।

।। दूहा ।।

विकल बाल जहं सकल हुअ । बुद्धि विकल प्रति साज ।।
भान बचन सच्चै सूकरि । जिन अप्पी प्रथिराज ।। ९४ ।।

शब्दार्थ—प्रति साज = प्रत्येक सजकर, सब तत्पर होकर । सच्चै सूकरि = सच्चे करे, पूर्ण करे । अप्पी = अर्पण कर दी है ।

प्रसंग—राजकुमारी को व्याकुल देखकर सभी लोग व्याकुल हो जाते हैं

तथा सभी ईश्वर से यह प्रार्थना करते हैं कि कुमारी का विवाह पृथ्वीराज के ही साथ हो।

व्याख्या—कुमारी शशिवृता के विकल होने पर उसके समस्त हितैषी विकल हो गये। सभी ईश्वर से यह विनय करने लगे कि हे ईश्वर! तू उन राजा भान के वचनों को सत्य कर दे, जिन्होंने शशिवृता को पृथ्वीराज के लिए समर्पित कर रखा है।

विशेष—प्रस्तुत प्रसंग हमें तुलसी के रामचरितमानस के धनुषयज्ञ की स्मृति दिलाता है, जहाँ पर जनकपुरी के सब नर-नारी मिलकर अपने पुण्यों तथा देवताओं को साक्षी बनाकर यह अभिलाषा व्यक्त करते हैं कि किसी प्रकार सीता का विवाह राम के साथ हो जाय। जनकपुरी के सभी नर-नारियों की स्थिति यह है—"पूजि पितर सब सुकृत सँभारे। जो कुछ पुण्य प्रभाव हमारे॥ तौ सिव धनु मृणाल की नाईं। तोरैं रामु गनेस गुसाईं॥" ठीक यही स्थिति इस अवसर पर देवगिरि-निवासियों की है।

॥ गाथा ॥

वीरं चंद सुव्याहं। सो व्याह जोगनी पुरयं॥
संभरि क्रन शशिवृत्तं। अगम बीराइ मं जनंत तयौ॥ ६५॥

शब्दार्थ—वीरं चंद = वीरचन्द। जोगनी पुरयं = योगिनीपुरेश्वर, दिल्लीश्वर, चौहान राजा पृथ्वीराज। संभरि = संभरीनरेश, सुनकर। क्रन = किया। आगे का पाठ 'अगम बीराइमं जनंत तयौ' न होकर 'आगम बीराइ मंजनं तनयौ' होना चाहिए। 'आगम बीराइ' का अर्थ होगा 'वीर पृथ्वीराज का आगमन' तथा 'मंजन तनयौ' का अर्थ होगा 'शरीर-मंजन, अर्थात् स्नान।'

प्रसंग—जब शशिवृता को यह पता लग जाता है कि उसका विवाह पृथ्वीराज के साथ ही होगा तो वह प्रसन्नचित्त हो स्नान करती है।

व्याख्या—जब शशिवृता को यह ज्ञात हुआ कि उसका विवाह वीरचन्द के साथ न होकर दिल्लीश्वर पृथ्वीराज के साथ होना निश्चित हुआ है तथा जब उसने यह सुना कि संभरीनरेश आ गये हैं तो उसने अपना श्रृंगार करने के

लिये स्नान किया।

विशेष—'संभरि' शब्द में श्लेष अलंकार माना जा सकता है। 'संभरि' का एक अर्थ 'सुनकर' होगा तथा दूसरा अर्थ 'संभरीनरेश' (पृथ्वीराज) होगा।

॥ कवित्त ॥

पुच्छि मात पित पुच्छि। पुच्छि परिवार ग्रेह सब ॥
मैं वृत्त लियौ निबद्ध। गवरि पुज्जन बाल जब ॥
तिन थांनक सब देव। नीति आरंभ व्रत लीनों ॥
तब प्रसाद उप्पनो। मोहि इच्छा व्रत दीनों ॥
तिन काल व्रत लीनोसु मैं। गवरि प्रसाद सु पुज्ज फल ॥
बारंज बात तुअ मोह हुअ। कहै और अब लहिअ फल ॥ ९६ ॥

शब्दार्थ—पुच्छि = पूछकर। पित = पिता से। ग्रेह = ग्रह के, घर के। निबद्ध = अबाध्य, अक्षय। गवरि = गौरी। पुज्जनं = पूजन का। नीति = नित, नित्य, हमेशा। इच्छा व्रत = व्रतेच्छा। प्रसाद = कृपा। पुज्ज फल = फलप्राप्ति। बारंज = इस बार अभी। तुअ = आप लोगों को। अबलहि = (मुझ) अबला का। अफल = निष्फल।

प्रसंग—शशिवृता किसी प्रकार हरसिद्धि नामक स्थान पर जाना चाहती है और इसके लिये वह अपके स्वजनों से कहती है कि यदि आप लोग मोह के वशीभूत होकर मुझे वहाँ जाने की आज्ञा न देंगे तो सब अनर्थ हो जायेगा। वस्तुतः ही शशिवृता का, वहाँ न जाने से, अनर्थ हो जायेगा, परन्तु किस प्रकार का अनर्थ होगा इसे विज्ञ पाठक ही जान सकते हैं, उसके सम्बन्धी नहीं। उसके हितैषी तो 'अनर्थ' का दूसरा अर्थ लगाते हैं, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि वहाँ न जाने पर वह अपने साजन से न मिल सकेगी।

व्याख्या—शशिवृता ने हरसिद्धि नामक स्थान पर जाने के लिये अपने माता, पिता परिवार के सदस्यों तथा घर के समस्त प्राणियों से अनुमति माँगी। उसने उन्हें बताया—मैं जब बालक थी तब मैंने गौरी-पूजन का अक्षय व्रत लिया था। वह हरसिद्धि नामक स्थान ऐसा स्थान है, जहाँ पर समस्त देवताओं ने सदैव ही शुभ कार्य के आरम्भ करते समय व्रत लिया है। आप

लोगों की कृपा से मुझे भी व्रतेच्छा हुई है। मैंने अपनी उसी बाल-अवस्था में व्रत धारण किया है और गौरी की कृपा से मुझे फल-प्राप्त का वर मिला है। यदि आप लोग अभी मोह के वशीभूत होकर अन्य प्रकार से कहेंगे अर्थात वहाँ जाने की आज्ञा न देंगे तो मुझ अबला का यह व्रत धारण करना सब निष्फल हो जायेगा।

विशेष—एक लोकोक्ति है, 'एक मतलबी को सौ भूतों की अक्ल होती है।' ठीक यही लोकोक्ति यहाँ भी चरितार्थ होती है। यहाँ पर देखना यह है कि पृथ्वीराज से मिलन की इच्छा ने शशिवृता को अवश बना लिया है। वह शीघ्रातिशीघ्र पृथ्वीराज से मिलना चाहती है और इसीलिये वह अपने चातुर्य के बल पर अपने माता, पिता तथा परिवार के समस्त लोगों को मूर्ख बना देती है।

॥ दूहा ॥

दुय देवल को छंडनह। उर सिंचन अंकूर॥
दीह काल बल बीचि वदि। लिय समान संपूर॥ ६७॥
वाला वेनी छोरि करि। छुट्टै चिहर सुभाइ॥
कनक थंभ तें ऊतरी। उरग सुता दरसाइ॥ ६८॥

शब्दार्थ—दुय = दुःख। देवल = देवालय। छंडनह = विछोह होने से। सिंचन अंकूर = प्रेमांकुर के पैदा होने से। दीह = दिवस। काल = समय। बल = बलवान्, शक्तिशाली। वीचि = बीच में, हृदय में। वदि = जानकर, मानती हुई। समान = पूजा की सामग्री। संपूर = सम्पूर्ण, पूरी। वेनी = चोटी। छोरि करि = खोलकर। चिहर = चिकुर, केश। सुभाइ = सुशोभित हो रहे थे। कंनक थंभ = स्वर्ण-स्तम्भ। उरग सुता = नागकन्या, सर्पिणी।

प्रसंग—यह निस्सन्देह सत्य है कि जब कन्या अपने पति के घर जाती है तो उसे एक आन्तरिक आनन्द की अनुभूति होती है, किन्तु साथ ही साथ उसे स्वजनों से विछोह का दुःख भी होता है। ठीक यही स्थिति शशिवृता के भी साथ है। अगले दूहे में शशिवृता के सुदीर्घ, चिक्कण एवं कृष्ण वर्ण के केश-कलाप का वर्णन है।

व्याख्या—शशिवृता का देवालय को जाना तो केवल वहाना था। उनके हृदय में तो प्रेमांकुर पैदा हो चुका था, अर्थात् वह हृदय से पृथ्वीराज से प्रेम करने लगी थी। अब शशिवृता देवालय जा रही थी, उसे पूर्ण विश्वास था कि पृथ्वीराज वहाँ आकर उसे अवश्य ले जायेंगे, अतः स्वजनों से अपना वियोग जानकर उसके हृदय को दुःख भी हुआ, किन्तु दिवस एवं समय को वलवान् मानते हुए उस बाला ने पूजा की सम्पूर्ण सामग्री अपने साथ ले ली। उस बाला शशिवृता ने अपनी चोटी खोलकर अपने बालों को मुक्त दशा में छोड़ दिया। उस समय उसका केश-कलाप इतना सुशोभित हो रहा था जैसे मानो स्वर्ण के स्तम्भ पर से सर्पिणी उतरती हुई दिखाई दे रही हो। कहने का आशय यह है कि शशिवृता का गौर-वर्ण शुद्ध सोने के सदृश भासित होता था, इसीलिये कवि ने उसके शरीर को स्वर्ण का स्तम्भ बताया है। उसके केश इतने स्निग्ध, कृष्ण तथा दीर्घ थे कि कवि ने उनको 'उरग सुता' ही कह दिया। कवि इससे पूर्व उसके नेत्रों की विशालता का वर्णन कर चुका है। वस्तुतः कवि तो उसे एक अनिन्द्य सुन्दरी के रूप में चित्रित करना चाहता है।

विशेष—९८वें दूहे में उपमा अलंकार का वहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है। यहाँ पर वाचक शब्द लुप्तोपमा अलंकार है, क्योंकि कवि ने उपमा अलंकार के चार धर्मों में से एक धर्म अर्थात् वाचक शब्द का कथन नहीं किया है।

॥ छन्द त्रोटक ॥

मय मंजन मंडित वाल तनं। घनसार सुगंध सुवोरि घनं॥
नव लोइन अंजित मंजि चली। कि मनो कस कुंदन षंभ हली॥९९॥
सुभ वस्त्र सुअंग सुरंगनसी। सुहली मनु साष मदन्न कसी॥
ज़रि जेहरि पाइ जराइ जरी। सजि भूषन नभ्भ मना उतरी॥१००॥
सिगरी लट यों विथरी विगसें। शशि के मुख तें अहि सें निकसें॥
रंग रत्त उवट्टन उज्जल कै। तिन में कछु सेत सुधा चलि कै॥१०१॥
नव राजिय रोम विराज इसी। जमना पर गंग सरस्वति सी॥
परि पान सुकुंकुम मज्जन कै। नव नीरज अंजन नैननि कै॥१०२॥

शब्दार्थ—मय = मदमाती। मंजन = मज्जन करके, स्नान करके। मंडित = अलंकृत किया, शृंगार किया। घनसार = चन्दन। सुवोरि = भली प्रकार

निर्मल

डुबोकर, नहाकर। घनं = भली प्रकार। नव लोइन = नवीन नेत्र, सुन्दर नेत्र। अंजित = अञ्जन। मंजि = लगाकर। कस = कसौटी। कुंदन पंभ = स्वर्ण का स्तम्भ। सुभ = सुन्दर। सुअंग = सुन्दर शरीरावयव। सुरंगनसी = सुरांगना के समान, देवांगना के समान। सुहली = सुनहरी, स्वर्णिम। साष = शाखा। मदन्न = मदन, कामदेव। जरि जेहरि = जड़ाऊ जेवर। पाइ = पैरों में। जराइ जरी = जरी से जड़ित। भूषन = वस्त्र। नम्भ = आकाश से। सिगरी = समस्त निखिल। लट = केशराशि। विथरी = फैली हुई। विगसें = विकसित थी, सुशोभित हो रही थी। शशि = चन्द्रमा। अहि सें = सर्प के समान, सर्प जैसे। रत्त = रक्त वर्ण का। उवट्टन = उवटन। सेत = श्वेत। नव राजिय रोम = नवीन रोमराजि। विराज = शोभा पा रही थी। इसी = इस प्रकार। नव नींरज = नवीन कमल के समान सुन्दर। नैननि = नेत्र। पान = पानी, जल।

प्रसंग—प्रस्तुत चार छन्दों में शशिवृता के श्रृंगार-प्रसाधन का वर्णन है।

व्याख्या—मदमाती उस उस वाला शशिवृता ने स्नान करने के पश्चात् अपने शरीर को भली प्रकार अलंकृत किया। सर्वप्रथम उसने अपने शरीर को चन्दन की सुन्दर गन्ध में समयक् स्नान कराया। तदनन्तर उसने अपने सुन्दर नेत्रों में अञ्जन लगाया। उस समय वह वाला ऐसी प्रतीत हो रही थी, जैसे मानों स्वर्ण के स्तम्भ को कसौटी पर कसा गया हो। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वर्ण के समान कान्ति वाले उसके शरीर के मुखमण्डल पर वह अञ्जन कसौटी के सदृश प्रतीत हो रहा था। जब उसने अपने सुन्दर शरीर पर सुन्दर वस्त्र धारण किये तो उस समय वह देवांगना जान पड़ती थी, अथवा वह ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे मानो कामदेव ने स्वर्णिम शाखा को कसौटी पर कसा हो। पैरों में उसने जड़ाऊ जेवर धारण किये तथा अपने शरीर पर जरी के काम से युक्त वस्त्र धारण किये। उस समय वह ऐसी जान पड़ती थी, जैसे मानो कोई अप्सरा आकाश से उतरी हो। चन्द्रमा के समान सुन्दर उसके मुखमण्डल पर सम्पूर्ण केशराशि बिखरी हुई ऐसी लगती थी, जैसे मानो चन्द्रमा के मुख से सर्प निकल रहे हों। उसने अपने शरीर पर रक्तिम वर्ण का स्वच्छ अवलेप किया था, जिसमें कुछ श्वेत कण अमृत के समान दृष्टिगत हो रहे थे। सम्भव है उस

समय उवटन में रंग-विरंगे पदार्थों के साथ कुछ श्वेत पदार्थ भी मिलाये जाते रहें हो। उसकी नवीन रोमराजि इस प्रकार सुशोभित हो रही थी, जिस प्रकार गंगा और सरस्वती पर यमुना सुशोभित हो रही हो। तात्पर्य यह है कि उसका गौर वर्ण तो गंगा तथा सरस्वती की भाँति दिखाई पड़ता था और उस पर कुछ कृष्ण वर्ण की रोमराजि यमुना के सदृश प्रतीत होती थी। कुंकुम मिले हुए जल से स्नान करने के पश्चात् उसने अपने नवविकसित कमलों के समान सुन्दर नेत्रों में अञ्जन लगाया था।

विशेष—'कि मनो कस कुंदन षंभ हली', 'सुहली मनु साष मदन्न कसी', 'सजि भूषन नम्भ मनो उतरी' में उत्प्रेक्षा अलंकार तथा 'सुरंगनसी', 'सिगरी लट यों बिथरी विगसें। शशि के मुख तें अहि निकस' और 'नव राजिय रोम विराज इसी। जमना पर गंग सरस्वति सी' में उपमा अलंकार है। यद्यपि कवि ने इन अलंकारों को अपने काव्य में लाने का प्रयास नहीं किया है, तथापि वे स्वतः ही आ गये हैं। वस्तुतः स्वतः आये हुए अलंकार ही काव्य को अलंकृत करते हैं।

॥ कुंडलिया ॥

हरि मज्जन सज्जन सुक्रम। अभूषन न समान॥
केहं काके कोहि दिसि। सज सषि नैन कमान॥
सजि सषि नैन कमान। केश वागुरि विस्तारिय॥
वंठि नैन नृप मूल पिम दपन गहं सज्जन॥
मन मृग पिय कृत काज। ताकि वंधन किय मज्जन॥१०३॥

शब्दार्थ—सज्जन = सज्जा करके, अपने को अलंकृत करके। सुक्रम = क्रम से। अभूषन = आभूषण। केश वागुरि = केश-कलाप। विस्तारिय = फैलाया। कट्टाच्छ = कटाक्ष। षुट्टी = वंदी। भारिय = बड़ी। गह = ग्रहण कर, अभिलाषा रखकर। मृग = हरिण। पिय = साजन, पति, पृथ्वीराज। ताकि = ताके, उसके। वंधन = बाँधने के लिये।

प्रसंग—अभी तक लगातार शशिवृता के शृंगार-प्रसाधन का ही वर्णन चल रहा है।

व्याख्या—शशिवृता ने स्नान करने के उपरान्त क्रम-क्रम से अपने शरीर को अलंकृत किया। उसके पास इतने आभूषण थे कि वे उसके शरीर में नहीं समा रहे थे। प्रियतम से मिलन की आतुरता में शशिवृता ने किसी अंग का आभूषण किसी अंग में धारण कर लिया। नेत्रों को सजाकर उसने उन्हें धनुष बना लिया था। अपने केश-कलाप को उसने पूर्ण रूप से मुक्त कर रखा था। उसकी कटाक्षपूर्ण दृष्टि में बड़े हाव-भाव भरे हुए थे। मस्तक पर उसने बड़ी-सी बेंदी लगा रखी थी। उसने अपने नेत्रों के अन्दर राजा पृथ्वीराज को बैठा रखा था। वह बड़ी अभिलाषा एवं प्रेमपूर्वक अपने साजन को देखना चाहती थी। उसका मन अपने प्रियतम के लिये हरिण हो रहा था, अर्थात् उसका मन पृथ्वीराज को देखने के लिये उतावला हो रहा था, किन्तु उसने उस हरिण को बाँधने के लिये स्नान कर रखा था। बात भी ठीक है, जब मनुष्य स्नान कर लेता है तो उस समय उसके मन के समस्त विकार दब जाते हैं।

विशेष—'नैन कमान' तथा 'मन मृग' में रूपक अलंकार है।

॥ छन्द नाराच ॥

सुगंध केस पासयं। सुलग्गि मुत्त छंडियं॥
अनेक पुष्प बीचि गुंथि। भासिता त्रिषंडयं॥
मनों सनाग पुप्फ जाति। तीन पंथि मंडियं॥
दुती कि नाग चंदनं। चढंत दुख पंडियं॥ १०४॥

शब्दार्थ—सुगंध = सुगंधित। केस पासयं = केश-पाश, केश-कलाप, केश-राशि। मुत्त = मुक्त। छंडियं = छोड़ दिया गया था। गुंथि = गुंथे गये थे। भासिता = सुशोभित हो रही थीं। त्रिषंडियं = तीन वेणियाँ। सनाग = नागों से युक्त, सर्पों से युक्त। पुप्फ = पुष्प। जाति समूह। पंथि = मार्गों पर। मंडियं = शोभायमान हो रहा हो। दुती = द्वितिय (उपमा)। चढंत = चढ़ते हों। दुद्ध पंडियं = दुग्ध के सदृश पाण्डु वर्ण के, दुग्ध के तुल्य श्वेत।

प्रसंग—यहाँ पर कवि ने शशिवृता के पुष्पगुम्फित सुन्दर केश-कलाप का मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है।

व्याख्या—शशिवृता अपने सुगन्धित केश-पाश को मुक्त रूप से छोड़ दिया था। उस केश-पाश के बीच में अनेकों फूल गूँथे गये थे तथा पुष्पों को गुम्फित करने के पश्चात् उस केशराशि की तीन वेनियाँ गूँथी गयी थीं। पुष्प-युक्त वे तीनों वेणियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं जैसे मानो नागयुक्त पुष्पों का समूह तीन मार्गों पर सुशोभित हो रहा हो। यहाँ पर कवि ने कितनी सुन्दर कल्पना की है। कवि की कल्पना में एक ऐसा दृश्य आता है, जहाँ पुष्पों के बीच में सर्प छिपे हों। शशिवृता के तीन वेणियों में विभक्त केश ही सर्प हैं। कवि दूसरी उपमा देता हुआ कहता है कि वे वेणियाँ ऐसी भासित होती हैं जैसे मानो सर्प दुग्ध-सदृश श्वेत-चन्दन-वल्लरी पर चढ़ रहे हों। किसी ने ठीक ही तो कहा है कि 'जहाँ न पहुंचे रवी। वहाँ पहुंचे कवी॥' अर्थात् जहाँ सूर्य को भी पहुंच नहीं वहाँ कवि अपनी कल्पना-किरण से प्रकाश प्रदान करता है। कवि सर्वप्रथम शशिवृता के स्निग्ध, कृष्ण एवं सुदीर्घ मुक्त केशों का दृश्य पाठक के समक्ष रखकर उसे (पाठक को) भाव-भूमि की चरम सीमा तक पहुंचा देता है। कितना विशद और मनोरम वर्णन है उस अनिन्द्य सुन्दरी के केश-कलाप का!

विशेष—कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना कर वर्णन में चार चाँद लगा दिये हैं। शशिवृता के केशों का अखण्ड सजीव चित्र पाठक के समक्ष झूलने लगता है।

॥ छंद नाराच ॥

सिंदूर मध्य गुच्छतं। भ्रगंमदं बिराजयं॥
मनौ कि सूर उग्गतै। गहै सु पुत्र लाजयं॥
सु तुच्छ सुच्छ पाट आट। पेम वाट सोभियं॥
मनों कि चंद राह बान। वे प्रमान लोभयं॥ १०५॥

शब्दार्थ—गुच्छत = गुम्फित, लगा हुआ। भ्रगंमदं = मृगमद, कस्तूरी। बिराजयं = शोभायमान होती है। सूर = सूर्य। उग्गतं = उदित हो रहे हों। गहे = लिये हुए। सु = इस शब्द का अर्थ कुछ अधिक स्पष्ट नहीं है, पुत्र से

तात्पर्य कदाचित् सूर्य के पुत्र यमराज से है, यमराज का वर्ण परम्परागत कृष्ण माना गया है और कस्तूरी भी काली ही होती है। लाजयं = लज्जायुक्त् अर्थात् कृष्ण वर्ण के। तुच्छ = कुछ कुछ। सुच्छ = स्वच्छ, श्वेत। पाट = कौशेय, रेशमी वस्त्र। प्रेम बाट = प्रेम-मार्ग। राह वान = रास्ता चलने वालों को, राहगीरों को। वे प्रमान = बरबस, हठात्। लोभयं = आकृष्ट कर लेता है।

प्रसंग—प्रस्तुत प्रसंग में सर्वप्रथम शशिवृता के सिन्दूर का तदनन्तर उसके कौशेय वस्त्रों का हृदयावर्जक वर्णन उपस्थित किया गया है।

व्याख्या—शशिवृता जो सिन्दूर लगाये हुए, उस सिन्दूर के मध्य लगी हुई कस्तूरी इस प्रकार सुशोभित हो रही है, जैसे मानो अपने कृष्ण वर्ण के पुत्र यमराज को अपनी गोद में लेकर भगवान् भास्कर उदित हो रहे हों। उदित होते हुए सूर्य का रंग लाल होता है, सिन्दूर भी रक्तिम वर्ण का होता है, इसीलिये कवि ने सिन्दूर की उपमा उगते हुए सूर्य से दी है। कुछ-कुछ श्वेत वर्ण के रेशमी वस्त्रों को धारण किये हुए शशिवृता प्रेम-मार्ग पर इस प्रकार शोभा पा रही है, जैसे चन्द्रमा राहगीरों को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। शरद् ऋतु के चन्द्रमा का वर्ण कुछ-कुछ पीला होता है, कुमारी के भी वस्त्र पूर्णतया श्वेत नहीं हैं, कुछ-कुछ श्वेत हैं, जो उनके कुछ पीत-वर्ण होने की ओर संकेत करता है। इस प्रकार कवि ने कौशेय वस्त्र धारण की हुई राजकुमारी की तुलना चन्द्रमा से की है। जिस प्रकार शरद् ऋतु का पूर्ण चन्द्र पथिकों की दृष्टियों को अपनी ओर हठात् खींच लेता है, उसी प्रकार प्रिय से मिलन के लिये जाती हुई कौशेयवसना कुमारी भी लोगों की दृष्टियों को अपनी ओर बरबस खींच लेती है।

विशेष—कवि ने पुनः उत्प्रेक्षा अलंकार का विधान करके वर्णन में विशदता ला दी है।

॥ छन्द नाराच ॥

कनक्क काम कुंडिलं । हलंत तेज उब्भरै ।
ससी सहाइ मान भाइ । सज्जि सूर दो करै ॥

दुती उपम्म बिंद को । किरन्न चंद दिठ्ठयं ॥
मनों कि सूर इंद गोदि । अप्प आनि विठ्ठयं ॥१०६॥

शब्दार्थ—कनक्क काम = स्वर्ण-निर्मित । कुंडिलं = कुण्डल । हलंत = हिलते हैं । तेज उब्भरे = तेज से उभरे हुए, तेजपूर्ण । ससी = चन्द्रमा । सहाइ = सहायता के लिये । मान भाइ = मनभावन, मन को अच्छे लगने वाले । सज्जि = सजाकर । सूर = सूर्य । दुती = द्वितीय । बिंद = बेंदी । किरन्न किरणें । दिठ्ठयं = दिखलाई पड़ती हैं । इंद = इन्दु, चन्द्रमा । गोदिं = गोद, क्रोड़ । अप्प = स्वयं । आनि = आकर । विठ्ठयं = बैठ गया हो ।

प्रसंग—पुन: शशिवृता के कुण्डलों तथा बेंदी का भव्य वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

व्याख्या—शशिवृता के कानों में जो स्वर्ण-निर्मित तेजपूर्ण कुण्डल हिल रहे हैं, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मानों चन्द्रमा ने अपनी सहायता के लिये सबके मन को अच्छे लगने वाले सूर्य को दो भागों में विभक्त करके सजाया हो । चन्द्रमा सूर्य से ही प्रकाश प्राप्त करता है, इसीलिये कवि ने यह कहा है कि चन्द्रमा ने अपनी सहायता के लिये दो सूर्यों का निर्माण किया है । कवि ने यहाँ पर शशिवृता के मुख को चन्द्र माना है तथा मुख के दोनों ओर लटकते हुए कुण्डलों को सूर्य माना है । ये ही कुण्डल सूर्य हैं शशिवृता के मुखचन्द्र की शोभा बढ़ा रहे हैं । अब दूसरी उपमा कवि कुमारी के भाल पर लगी हुई उस बेंदी की देता है जो है जो उसके मुखचन्द्र पर सूर्य की किरणों की भांति चमक रही है । कवि कहता है कि उस बेंदी को देखकर ऐसा मालूम पड़ता है जैसे मानो स्वयं सूर्य चन्द्रमा की गोद में आकर बैठ गया हो । बेंदी सूर्य है और मुख चन्द्रमा । मुखमण्डल पर चमकती हुई बेंदी ऐसी प्रतीत होती है, जैसे चन्द्र की क्रोड़ में सूर्य । कवि शशिवृता के मुख की तुलना सदैव चन्द्रमा से करता है, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा में शीतलता है, दाहकता नहीं, उसी प्रकार शशिवृता के मुख को भी देखकर हृदय को शान्ति मिलती है ।

विशेष—कुण्डलों तथा वेंदी की तुलना पुनः सूर्य से करके कवि ने उत्प्रेक्षा-अलंकार की उद्भावना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्प्रेक्षा अलंकार चन्द वरदाई को बहुत प्रिय रहा होगा।

॥ छंद नाराच ॥

भुवन वंक संक जूअ। नैन म्रग्ग जूवयं ॥
उरद्धता चपल्ल गत्ति। अच्छ आनि ऊवयं ॥
कटाच्छ नैन वंक संक। चित्त मान बंकयं ॥
सुछंडि वै सु कुंचितं। श्रवन्न वान नंषयं ॥

शब्दार्थ—भुवन्न = भौंहें। वंक = टेढ़ी, तिरछी। जूअ—युवती (शशिवृता)। म्रग्ग = मृग, हरिण। जूवयं = युवती (शशिवृता) के। उरद्धता = हृदय को बींधने वाली। चपल्य = चपल, चंचल। गत्ति = गति, चाल। अच्छ = सुन्दर। आनि = आ गयी है। ऊवयं = युवावस्था। कटाच्छ = कटाक्षपूर्ण। मान = में। बंकयं = तिरछी गति से प्रवेश करने वाले। सुछंडि = छोड़े हुए, फैले हुए। सु = उसके। कुंचितं = तिरछे। भवन्न = श्रवनों तक, कानों तक। बान = बाण। नंषयं = छोड़ती है।

प्रसंग—अब कवि राजकुमारी की सुन्दर चाल तथा कटीले नेत्रों का वर्णन करता है।

व्याख्या—उस युवती शशिवृता की तिरछी सशंकित भौंहें हैं। उस तरुणी के नेत्र हरिण के नेत्रों के समान बड़े-बड़े हैं; उसकी चंचल चाल, देखने वाले व्यक्तियों के हृदयों को बींधने वाली है। उस पर सुन्दर युवावस्था आ रही है। उसके कटाक्षपूर्ण तिरछे सशंकित नेत्र देखने वाले के हृदय में तिरछी गति से प्रवेश करते हैं। स्मरण रहे, जो वस्तु तिरछी होकर अन्दर जाती है और यदि वह तिरछा पड़ जाय तो उसका निकलना बहुत कठिन होता है। इसी प्रकार शशिवृता के वे तिरछे कटाक्ष जिस व्यक्ति के हृदय में तिरछी गति से प्रवेश कर जायँ तो फिर बस 'नीम और गिलोय चढ़ी' समझिये। एक तो स्वयं बंकिम नेत्र और फिर तिरछे होकर अन्दर बैठें, फिर तो उनका बाहर आना दूभर ही

जानो। कहने का आशय यह कि जो व्यक्ति एक बार शशिवृता के बंकिम नेत्रों को देख लेता है, फिर उन्हें भुला नहीं पाता। गोपियाँ भी तो उद्धव से कहती है—'उर में माखन चोर गड़े। अब कैसे हु निकसत नहिं ऊधौ तिरछे ह्वै जो अड़े।' माखन चोर 'तिरछे' होकर गोपियों के हृदय में अड़ गये हैं अतः अब वे निकाले नहीं निकलते। शशिवृता के वे धनुषाकार तिरछे नेत्र उसके कानों तक फैले हुए हैं। इन धनुषाकार विशाल नेत्रों से वह कटाक्ष-रूपी वाण छोड़ती है।

विशेष—कवि ने शशिवृता के नेत्रों को धनुष बताकर उन पुरुषों पर वाण बरसाने वाला बताया है।

॥ छंद नाराच ॥

सुगंधता अनेक भांति। चीर चारु मंडियं ॥
सु केहरी कटि प्रमान। बीच वंधि छंडियं ॥
सुरंग अंग कंचुकी। सुमंत गात ता जरी ॥
वनाई काम पंच वान। ओट जोट लैं धरी ॥१०८॥

शब्दार्थ—अनेक भांति = अनेक प्रकार की। चीर = वस्त्र। चारु = सुन्दर। संडियं = शोभा पा रहा है। सु = उसकी। केहरी = सिंह। कटि = कमर, मध्य भाग। वधि = बाँधकर। छंडियं = छोड़ दिया गया है। सुरंग = सुन्दर रंगों वाली। सुभंत = शोभा पाती है। ताजरी = जरी के काम से युक्त वह (कंचुकी)। काम = कामदेव। ओट = आड़। जोट = जोड़ा (स्तनों का)।

प्रसंग—यहाँ पर कवि ने शशिवृता के सुन्दर वस्त्रों, उसकी पतली कमर तथा कञ्चुकी का वर्णन उपस्थित किया है।

व्याख्या—वह राजकुमारी अनेक प्रकार की सुगन्धियाँ लगाये हुए है। उसके शरीर पर सुन्दर वस्त्र शोभा पा रहे हैं। उसकी कमर सिंह की कमर के समान पतली है। उसने अपनी उस सुन्दर पतली कमर से वस्त्रों को बाँधकर नीचे की ओर छोड़ रखा है। वह सुन्दर रंगों वाली कंचुकी धारण किये हुए है। वह जरी के काम से युक्त कंचुकी उसके शरीर पर बहुत अधिक शोभा

पा रही है। उस कुमारी की कंचुकी को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानो कामदेव ने उसके दोनों स्तनों की आड़ में अपने पाँचों वाणों को सजा रखा है। कहने का आशय यह है कि उरोजों के उभार को देखकर प्रत्येक व्यक्ति काम-विह्वल हो जाता है।

विशेष—'वनाई काम पंच वान। ओट जोट लै धरी' में कवि अश्लीलता की सीमा का स्पर्श करता दिखायी देता है।

।। छंद नाराच ।।

सुरंग माल लाल वाल। ता विसाल छंडयं ।।
सु पुब्ब पैर जाति काम। अग्गि संभ मंडयं ।।
जु भारथी सु गंग लें। सुमेर श्रृंग तें वही ।। १०९ ।।

शब्दार्थ—सुरंग = सुन्दर रंगों वाली। माल = माला। वाल = वाला, शशिवृता। ता = उस, कंचुकी के ऊपर। विसाल = विशाल माला। छंडयं = छूटी हुई है, पड़ी हुई है। पुब्ब = पहले का। पैर = यहाँ पर 'पैर' पाठ अशुद्ध प्रतीत हो रहा है, क्योंकि इससे कोई तर्कसंगत अर्थ नहीं लगता, अतः यहाँ पर 'बैर' पाठ होना चाहिए, 'बैर' का अर्थ है 'शत्रुता'। जानि = जानकर, स्मरण करके। अग्गि = आगे। संभ = शम्भु, भगवान शंकर। मंडयं = शोभा पा रहा है। भारथी = भागीरथी। श्रृंग = चोटी, शिखर। सुमेरू = सुमेरू पर्वत। तें = से वही = प्रवाहित हो रही है।

प्रसंग—अधुना कवि शशिवृता के गले में पड़ी हुई माला का विशद वर्णन स्थापित कर रहा हैं।

व्याख्या—बाला शशिवृता ने उस कंचुकी के ऊपर सुन्दर लाल रंग लम्बी माला छोड़ रखी थी। वक्षःस्थल पर पड़ी हुई उस माला को देखकर ऐसी प्रतीति हो रही थी, जैसे मानो स्वयं कामदेव ही अपने पूर्व जन्म की शत्रुता का स्मरण कर भगवान् शंकर के आगे सुशोभित हो रहा हो। कहने का तात्पर्य यह है कि माला को धारण की हुई उस शशिवृता को जो भी देखता, उसके हृदय में रति भाव उद्बुद्ध होना स्वाभाविक ही था। अथवा

ऐसा प्रतीत होता था, जैसे मानो भागीरथी गंगा सुमेरु पर्वत के शिखर से प्रवाहित हो रही हो। कवि ने यहाँ पर शशिवृता को सुमेरू पर्वत के रूप में तथा उसके ग्रीवा-प्रदेश को उस सुमेरु पर्वत के शिखर-रूप में चित्रित किया है।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

॥ छंद नाराच ॥

जराइ चौकि स्याम पाट। रत्ति पत्ति तं षुली ॥
सुरंग तिथ्थ थान मंडि। ईस शीश तं चली ॥
सुवनै छुद्रघंटिकादि। षोडसं वषानयं ॥
सु मुत्तिता तमौर तन्न। सोदरं वषानयं ॥ ११० ॥

शब्दार्थ—जराइ = जड़ाऊ। चौकि = चौकी, एक प्रकार का आभूषण। स्याम = कृष्ण वर्ग का। पाट = रेशमी वस्त्र। रत्ति पत्ति = पतिविषयक प्रेम। षुली = खुली, उन्मुक्त, निमग्न। सुरंग = सुन्दर, सुरम्य। तिथ्थ = वहां, उस। थान = स्थान। मंडि = सुशोभित करके। ईस = भगवान शंकर। सुवनै = सोने की। छुद्रघंटिकादि = छोटी; छोटी घण्टिकाएँ आदि। षोडसं = सोलह प्रकार का (शृंगार)। वषानयं = कहा जा सकता है। मुत्तिता = मौक्तिकता। तमोर = ताम्बूल, पान। तन्न सोदर = उसका सहोदर, उसकी सहोदरा, भगिनी।

प्रसंग—यहाँ पर शशिवृता की चौकी, काले रेशमी वस्त्र, छोटी-छोटी स्वर्ण-विनिर्मित घण्टिकाओं, ताम्बूल आदि का वर्णन है।

व्याख्या—शशिवृता जड़ाऊ चौकी तथा कृष्ण कौशेय वस्त्र धारण किये हुए थी। उस समय वह बाला पति के प्रेम में आकण्ठ मग्न थी। जहाँ पर वह चौकी धारण किये हुए थी, वह स्थान बहुत अधिक शोभा पा रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे मानो भगवान शंकर के सिर से गंगा प्रवाहित हो रही हो। राजकुमारी छोटी-छोटी सोने की बनी हुई घण्टिकायें धारण किये हुए है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसने अपना सोलहों प्रकार से शृंगार कर

रखा है। उसका शरीर मुक्ता के सदृश चमक चुका है। मुँह में वह ताम्बूल चबा रही है। वस्तुतः वह शृंगार की भगिनी प्रतीत हो रही है।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

॥ छंद नाराच ॥

सुगंध गोप चिन्ह मंडि। पीत रत्त जावकं॥
अभूषनं धरंता चित्त। मित्त हित्त शावकं॥
वनाई के चौंडोल लाल। चढ़िढता सु सुन्दरी॥
सुदोपिता सुरंग थान। अस्तु तास उच्चरी॥ १११॥

शब्दार्थ—गोप = प्रछन्न रूप से। चिन्ह = आभरण। मंडि = धारण कर रखे हैं। पीत = पीत वर्ण की। रत = लाल वर्ण की। जावकं = महावर। अभूषनं = आभूषण को। धरंता = धारणा करते हुए। मित्त = मित्र, प्रियतम, पृथ्वीराज। हित्त = हित। शाकवं = मृगशावक, मृग का बच्चा। चौंडोल = चंडोल, पालकी। चढ़िढया = चढ़ी। सुरंग = सुन्दर। अस्तु = अस्तुति। तास = उसकी।

प्रसंग—यहाँ पर अपना समस्त शृंगार करके शशिवृता का पालकी में सवार होकर हरसिद्धि नामक स्थान को जाना वर्णित है।

व्याख्या—प्रच्छन्न रूप से समस्त सुगन्धित आभरणों को धारण कर उसने पीत एवं रक्त वर्ण की महावर लगायी। जब वह अपने शरीर पर आभूषण धारण कर रही थी, उस समय मृगशावक सदृश वह सुन्दरी अपने प्रियतम पृथ्वीराज के ही हित को हृदय में धारण किये हुए थी, अर्थात् किसी भी क्षण उसके हृदय से पृथ्वीराज उतरता नहीं था। लाल वर्ण के सन्दर चण्डोल पर वह राजकुमारी सवार हुई। वह सुदोपिता (शशिवृता को इसलिये कहा गया है कि कुमारी अवस्था में ही उसके हृदय में कामदेव ने घर कर लिया था) इस रम्य स्थान (हरसिद्धि नामक स्थान) को चल पड़ी। उस समय उसका स्तुति-गान किया गया।

विशेष—उपर्युक्त आठ छन्दों में कवि ने शशिवृता के श्रृंगार का बड़े मनोयोग से वर्णन प्रस्तुत किया है। वस्तुतः देखा जाय तो 'पृथ्वीराज रासो' के प्रस्तुत प्रकरण में श्रृंगार रस वीर रस का अतिक्रमण कर गया है।

॥ दूहा ॥

सजि श्रृंगार शशिवृता तन। चढ़ि चौंडोल सुरंग ॥
पूजन को वर अंबिका। आई बाल सुअंग ॥ ११२ ॥

शब्दार्थ—चढ़ि—चढ़कर। अंबिका—देवी। सुअंग—सुन्दर शरीर वाली सुन्दरी।

प्रसंग—अब शशिवृता देवी-पूजन के लिये चल पड़ती है, किन्तु यह तो विज्ञ पाठक ही जानता है कि वह देवी-पूजन को जा रही है, अथवा पति-पूजन को।

व्याख्या—वह सुन्दरी शशिवृता अपने शरीर का भली प्रकार श्रृंगार करके सुन्दर पालकी पर सवार होकर देवी-पूजन के लिये चल पड़ी।

॥ छंद नाराच ॥

चली अली घनं बनं। सुमंत सथ्थ संघनं ॥
विहंग भंगयो पुरं। चलंत सोम नोपुरं ॥११३॥
अलीन जुथ्थ आवरं। मनो विहंग सावरं ॥
चुवंत पत्त रत जा। उवंत जानि अंबुजा ॥११४॥
कलिंद सीम केसयं। अनंग अंग लोभयं ॥
उठंत कुंच कुच्चयं। उपंम कब्बि सुच्चयं ॥११५॥
मनो जरंत बाल की। धरी सु आनि लालकी ॥
सुभंत रामराजयं। प्रपील पंति छाजयं ॥११६॥
मनोज कूप नाभिका। चलंत लोभ आलिका ॥
सुरंभ सोभ पिंडुरी। षरादि काम षिंडुरी ॥
नितंब तुंग सोभए। अनंग अंग लोभए ॥
मनो कि [illegible] थंभ से। सुथंभ [illegible] खंभ के ॥११८॥

नषादि आदि अच्छनं। मनों कि इन्द्र द्रप्पनं ॥
ढारंत रत्त एडियं। उपम्म कव्वि टेरियं ॥११९॥
मनौं कि रत्त रत्तजा। चिकंत पत्र अंब्रुजा ॥१२०॥

शब्दार्थ—अली = कुमारी शशिवृता। घनं बनं = घने बन में होकर। सुभंत = सुशोभित होती है। सथ्थ = सहेलियाँ। संघनं = बहुत अधिक संख्या में। व्रिहग = विहंग, पक्षी। भंगयो = टूट गया है, दूर हो गया है। पुरं = पुर, नगर, देवगिरि नगर। चलंत = चलते हुए, जाते हुए। सोभ = शोभा पाते हैं। नोपुर = नूपुर। अलीन = सखियां। जुथ्थ = यूथ, समूह। आवरं = अन्य सी, विशेष सुन्दर। व्रिहंग सावरं = विहंगशावक। चुवंत = टपकती है। पत्त रत = पातविषयक रति। उवंत = उगते हुए, विकसित होते हुए। जानि = समझी। अम्बुजा = अम्वुज, कमल। कलिंद = कालिंदी, (यमुना) के समान कृष्ण वर्ण की)। सीम = सीमन्त, मांग। केसयं = केशों की। अनंग = कामदेव। लोभयं = लुभाने वाली। उठंत = उठते हुए। कुम्भ = कुम्भ, घट (के समान)। कुच्चयं = कुच, उरोज। उपंम = उपमा। सुच्चय = सोचता है, विचारता है। बाल की = बाला की। आनि = लाकर। सुभंत = सुशोभित होती है। रोम-राजयं = रोमराजि। प्रपील = पिपीलिका, चींटी। पंति = पंक्ति। छाजयं = छायी हुई हो। मनोज = कामदेव। कूप = कुआँ। नाभिका = नाभि। चलंत = चलते हुए, जाते हुए। लोभ = लालायित हो जाते हैं। आलिका = भ्रमर। सुरंग = सुन्दर। सोभ = शोभा पाती है। पिंडुरी = पिंडलियाँ। षरादि = खरादी गयी, शाण पर चढ़ायी गयी। काम = कामदेव की। पिंडुरी = छुरी, भुजाली। तुंग = ऊँचे। सोभए = सरसा रहे हैं। लोभए = आकृष्ट कर लेते हैं। रथ्थ = रथ। सुरंम = सुरम्य, सुन्दर। चक्क = चक्र। सम्भ = शम्भु, भगवान शंकर। नषादि = नख आदि, नाखून आदि। अच्छनं = सुन्दर। द्रप्पनं = दर्पण, शीशा। ढारंत = सुढलवाँ, ढालू। रत्त = रक्त वर्ण की, लाल रंग की। एडियं = एड़ियां। कब्बि = कवि। टेरियं = पुकार रहा है, स्मरण कर रहा है, सोच रहा है। रत्त रत्तजा = रक्तिम वर्ण के। चिकंत = चिक्कण, स्निग्ध। पत्र = पत्ते, पंखुड़ियां। अम्बुजा = कमल।

प्रसंग—पुनः शशिवृता का नख-शिख वर्णन उपस्थित किया गया है।

व्याख्या—राजकुमारी शशिवृता घने वन को पार करती हुई आगे बढ़ी। उसके साथ में अनेकों सहेलियाँ शोभा पा रही हैं। पक्षियों के कलरव से यह ज्ञात होता था कि नगर (देवगिरि) बहुत पीछे छूट चुका है। चलते हुए उन सखियों तथा शशिवृता के नूपुर अपार शोभा पा रहे हैं। अपनी सहेलियों के समूह में शशिवृता ऐसी लग रही हैं जैसे मानो कोई अन्य विहंगशावक ही हो। कवि के कथन का तात्पर्य यह है कि अपने विशेष रंग-रूप के कारण शशिवृता अपनी समस्त सहेलियों से अलग जान पड़ती है। उसके कपोलों से पतिविषयक रति टपक रही है। ऐसे समय में प्रायः देखा जाता है कि स्त्रियों के कपोलों पर लज्जा के कारण लालिमा आ जाती है। ठीक यही दशा शशिवृता के कपोलों की है। उस समय उसके कपोलों को देखकर ऐसा भान होता था जैसे मानो कमल विकसित हो रहे हों। कालिन्दी के समान कृष्ण वर्ण के केशों की मांग कामदेव को भी लुभाने वाली है। घटसदृश उसके उठते हुए कुचों की उपमा कवि सोच रहा है। फिर कहता है कि उसके कुच ऐसे दिखलाई पड़ रहे हैं जैसे मानो किसी बाला की जड़ाऊ लालकी लाकर रख दी हो। शशिवृता की रोमराजि इस प्रकार शोभा पा रही है जैसे मानो उसके समस्त शरीर पर पिपीलिकाओं की पंक्तियाँ छायी हुई हों। कामदेव को भी मुग्ध करने वाली उस राजकुमारी की नाभि कूप के तुल्य गम्भीर है। उसे देखकर चलते हुए भ्रमर भी लालायित हो जाते है। उसकी सुन्दर पिंडलियाँ इस प्रकार शोभा पा रही है, जैसे मानो शाण पर चढ़ायी हुई छूरियाँ हो। उसके सरसायमान उच्च नितम्ब कामदेव के मन को लुभाने वाले हैं। उसके वे नितम्ब ऐसे जान पड़ते हैं, जैसे मानो रम्भा अथवा भगवान शंकर के रथ के सुन्दर चक्र हों। यह उपमा यहाँ पर कुछ ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि भगवान शंकर का वाहन रथ नहीं, वरन् नन्दी है। उसके सुन्दर नख आदि इन्द्र के दर्पण-तुल्य प्रतीत हो रहे हैं। उसकी सुढलवाँ एवं रक्त वर्ण की एड़ियों को देखकर कवि उनकी तुलना करने के लिये उपमा सोच रहा है। कवि कहता है कि उसकी एड़ियां रक्ताभ कमल की स्निग्ध पंखुड़ियों के समान प्रतीत हो रही हैं।

विशेष—प्रस्तुत आठ छन्दों में न जाने कितनी बार उत्प्रेक्षा अलंकार आया है। यह सब विधान शशिवृता के सौन्दर्य का उत्कर्ष सूचित करने के लिये ही किया गया है।

॥ गाथा ॥

पढमे रष्षत वाले। लग्गा सेनाय पास चिहुं बीरं॥
धरि धीरं तन दुरयं। रोमं राज रोमयं अंचं॥ १२१॥

शब्दार्थ—पढ़मे = मध्य में। रष्षत = रखकर। वाले = बाला शशिवृता को। लग्गा = लगा दिया। सेनाय = सेना को। चिहुं = चारो ओर। बीर = बीरचन्द ने। तन दुरयं = शरीर छिपाया। रोमं राज = रोमराजि में। रोमयं अंचं = रोमाञ्च हुआ।

प्रसंग—वीरचन्द अपनी सेना को शशिवृता के चारों ओर लगा देता है। इससे शशिवृता को बड़ी उद्विग्नता होती है तथा वह इस भय से कि कहीं वीरचन्द उसका शरीर न देख ले, अपने शरीर को छिपा लेती है।

व्याख्या—वीरचन्द ने बाला शशिवृता को बीच में रखकर अपनी विशाल वाहिनी उसके चारों ओर तनात कर दी। इससे शशिवृता को बड़ी व्याकुलता उत्पन्न हुई, किन्तु फिर भी उसने धैर्य धारण करके किसी प्रकार अपने शरीर को ढंका। वह यह नहीं चाहती थी कि वीरचन्द उसके शरीर को देखे। विषम परिस्थिति को सामने देखकर भय के कारण शशिवृता को रोमराजि में रोमाञ्च हुआ।

विशेष—रोमाञ्च दो ही परिस्थितियों में होता है, या तो बहुत अधिक हर्ष की स्थिति में, अथवा फिर बहुत अधिक भय के समय। यहाँ पर शशिवृता में रोमांच भय के कारण हुआ है। उसे यह भय है कि कहीं वीरचन्द उसे न ले जाय। इस भयावह स्थिति पर विचार करते ही उसे रोमांच हुआ।

॥ दूहा ॥

बाल धरक्कति बचनि गति। ग्यान मोह विष पान॥
त्यों कमधज्जं दोष के। बर चित्त चहुंआंन॥१२२॥

शंकर रस आचार किय। मढ़ दिष्षिय प्रति जोई ॥
मन लग्गिय वंधत सु पय। मन कंद्रप रस भोइ ॥१२३॥

शब्दार्थ—धरक्कति = धड़कती है, काँपती है। वचनि गति = वचनों की गति से, श्वासों की गति से। पान = पीना, पाणि, हाथ। कमधज्जै = कमधज वीरचन्द। वर = वर, भावी पति। दिष्षिय = देखा। सु = उनके (शंकर के)। पय = पद। कंद्रप = कन्दर्प, कामदेव। भोइ = विभोर, मग्न।

प्रसंग—प्रायः यह देखा जाता है कि जब मनुष्य पर विपत्ति आने वाली होती है तो वह अपने देवी-देवता मनाने लग जाता है। ठीक इसी प्रकार कमधज वीरचन्द को देखकर आगामी भय की आशंका से शशिवृता भगवान शंकर का ध्यान करने लगी।

व्याख्या—उस बाला का श्वासों के साथ ही हृदय धड़क रहा है। जिस प्रकार ज्ञान से मोह काँपता है, विषपान करने से पहले हाथ काँपता है, उसी प्रकार वह राजकुमारी अपने भयभीत नेत्रों से कमधज वीरचन्द को देखकर अपने प्रियतम चौहान पृथ्वीराज का चिन्तन करने लगती है। जब शशिवृता का हृदय अधिक भयभीत हुआ तो उसने भगवान् शंकर का विचार किया और उन्हें उसने प्रत्येक दिशा में व्याप्त देखा। एक ओर तो उसने अपने मन को भगवान् शंकर के चरणों में लगाकर वाँध दिया है और दूसरी ओर उसका मन कामदेव के रस में मग्न हो रहा है।

विशेष—यहाँ पर कवि ने अपना मानव-प्रकृति के सूक्ष्म विश्लेषण का परिचय दिया है। कवि ने यह वताकर कि भय की आशंका से शशिवृता शिवजी का ध्यान करती है, अपना मानव-मनोविज्ञानवेत्ता होना सिद्ध किया है।

॥ कवित्त ॥

दहति तीन चौंडोल। मध्य चौंडोल बाल भय ॥
भमर टोल झंकार। दासि बिंटिसुय पंच सुय ॥
सित्त पंच असवार। पंति मंडिय चावद्दिसि ॥
अद्ध लष्ष पदल्ल। सथ्थ आयौ, सुअंग कसि ॥

मंगल विवेक विधि उच्चरे। बंधी बंदनमार करि॥
उत्तरी बाल देवल सुढिग। लग्गि पाइ परदच्छि फिरि॥१२५॥

शब्दार्थ—दहति तीन = दय और तीन अर्थात् तेरह। भय = भय, हुआ; था। भमर टोल = भ्रमर-मण्डली, भ्रमर-समूह। झंकार = गुंजन कर रहे थे। दासि = दासियाँ। विटिय = घेरे हुए थीं। पंच सय = पाँच सौ। सित्त पंच = पाँच सौ। पंति — पंक्ति। मंडिय—मँडरा रहे थे, छा गये थे। चावद्दिसि = चारों ओर। अद्ध लष्ष = आधा लाख। पैदल्ल = पदातिसेना। सथ्य = साथ। सुअंग कसि = अपने शरीरों पर भली प्रकार शस्त्र सुसज्जित करके। मंगल = मंगलपाठ। विवेक = विवेकी, ज्ञानी ब्राह्मण। उच्चारण = कर रहे थे। बंदनमार = बन्दनमाला। उत्तरी = उतरी। देवल = देवालय। सुढिग = पास। लग्गि पाइ = पाँव लागकर, बन्दना करके। परदच्छि = प्रदक्षिणा। फिर = पुन:, इसके बाद अर्थात् वन्दना करने के बाद।

प्रसंग— शशिवृता किस प्रकार अपनी सखियों तथा सेना से घिरी हुई जा रही थी, इसका वर्णन कवि ने प्रस्तुत कवित्त में दिया है।

व्याख्या— तेरह पालकियों के बीच में बाला शशिवृता की पालकी थी। कवि यह पहले ही बता चुका है कि शशिवृता ने अनेक प्रकार की सुगन्धियों का अपने शरीर पर अवलेपन कर रखा था, अत: उस वासाधिवय के कारण भ्रमर-मण्डली उसकी पालकी के चारों ओर मँडरा रही थी। उसके चारों ओर पाँच सौ दासियाँ फैली हुई थीं। पंक्तिबद्ध पाँच सौ असवार उसके चारों ओर छाये हुए थे। उसके साथ में अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित अर्ध लक्ष सेना आयी हुई थी। विद्वान् ब्राह्मण विधिपूर्वक मंगलपाठ कर रहे थे। देवालय के द्वार पर वन्दनमाला बाँध दी गयी थी। वह बाला देवालय के समीप में जाकर उतरी। तदनन्तर उसने वन्दना करके प्रदक्षिणा की।

अन्य अर्थ और - बन्दी जन वन्दना गान कर रहे हैं। साहित्यिक, २२

॥ गाथा ॥

जोइज्जै मन चरियं। हरियं एक कग्गयौ संवदं॥
सब सेना मन कमधज्जं। बिटे वा बाल सर सायं॥ १२५॥
बर जैचंद सुबंध। प्रोहित पंग रष्षयं आइयं॥
सहचर चारू सुपढियं। हालाहलं बालयं मनयं॥ १२६॥

शब्दार्थ—जोइज्जै = जो-जो। मन चरियं = मन में विचरण कर रहा था, सोच रही थी। हरिय = हरण कर लिया गया, दूर कर दिया गया। कग्गयौ = काग के, कौवे के। सवदं = शब्द ने, आवाज ने। विंटे = छितरायी हुई। सरसाय = सुशोभित हो रही थी। जैचंद सुवंध = जयचन्द के भाई वीरचन्द ने। प्रोहित = पुरोहित। पंग = पंगुराय जयचन्द या वीरचन्द। सहचर चारु = शाखोच्चारण। सुपढियं = पढा जाने लगा, किया जाने लगा। हालाहलं = हलाहल या तीव्र विष का। बालयं = बाला शशिवृता ने। मनयं = मन में विचार किया।

व्याख्या—शशिवृता के मन में पृथ्वीराज-सम्बन्धी जो कल्पनाएँ चल रही थीं वे सहसा कौवे की एक आवाज द्वारा भंग कर दी गयीं। कौवे की आवाज बड़ी कर्कश होती है, अतः उसकी आवाज सुनकर शशिवृता, जो कल्पना-लोक में विचरण कर रही थी, पुनः वास्तविक जगत् में आ गयी। उसका वह समस्त कल्पना-संसार ढह गया। कमधज वीरचन्द के द्वारा छितरायी हुई समस्त सेना के बीच में वह बाला अत्यधिक शोभा पा रही थी। पंगुसराय जयचन्द का भाई वीरचन्द पुरोहित के पास आया, शाखोच्चरण किया जाने लगा। यह स्थिति देखकर कुमारी ने हलाहल विष का पान करने का मन में निश्चय किया, क्योंकि उसने समझा कि पृथ्वीराज को पति-रूप में प्राप्त किये बिना उसका जीवित रहना व्यर्थ है।

॥ दूहा ॥

चढ्यौ पुंज नव साज वर। अरु भर लिन्ने सथ्थ।
संभु थाँन पूजन मिसह। चलि वर आयौ तथ्य॥ १२७॥
तल लगि दल चहुआंन के। ग्रय गुपंति कर आइ।
रुक्कि सकै नन मध्य लिय। बोले संमुह धाइ॥ १२८॥

शब्दार्थ—पुंज = शशिवृता का पिता यादव पुंज। नव साज = नवीन युद्ध सज्जा (करके)। भर = भट। योद्धा = सेना। लिन्ने = लेकर। सथ्थ = साथ। मिसह = बहाने से। नर = वर, दूल्हा, वीरचन्द। तथ्थ = वहां, देवालय में।

तब लगि = इतने में ही। दल = सेना। ग्रह गुपंति कर = देवालय को घेर लिया। रुक्कि सके = रोक सके। नन = नहीं। संमुह = सामने, समक्ष।

प्रसंग--वीरचन्द का देवालय को जाना सुनकर पुंज भी वहाँ पहुंचता है और पीछे से पृथ्वीराज की सेना भी पहुंच जाती है।

व्याख्या—जब शशिवृता के पिता पुंज को यह ज्ञात हुआ कि दूल्हा वीरचन्द भगवान् शंकर की आराधना के बहाने यहीं देवालय पर पहुँचा हुआ है, तो युद्ध की आशंका से पुंज ने भी युद्ध-सज्जा से अपनी सेना सज्जित की और उसे लेकर वहाँ पहुँच गया। इतने में ही चौहान राजा पृथ्वीराज की सेना ने आकर देवालय का घेरा डाल दिया। उसकी सेना में ऐसे-ऐसे वीर थे जिसका देवालय के मध्य भाग में पहुँचने से कोई नहीं रोक सकता था, तथा जो सामने होकर अपने विपक्षी को ललकारने वाले थे।

विशेष—'पृथ्वीराज रासो' के 'शशिवृता विवाह प्रस्ताव' में आगे जा भयंकर युद्ध होने जा रहा है, उसकी भूमिका यहीं से बंधनी प्रारम्भ हो जाती है।

॥ कवित्त ॥

सहस सत कप्परिय। भेष कीनो तिन कारं॥
गोप तेग गहि गुपत। कपट कावरि सब भारं॥
किहुन फरस किहुँ छुरी। चक्र किन हाथन माही॥
किन त्रिसूल किन डंड। सिंगि सब सथ्थ समाहीं॥
सा अंग सिद्ध चहुआंन ले। दूतन दूत बताइ हरि॥
सा अं बाल उतकंठ करि। पै लग्गी परदच्छि फिरि॥१२९॥

शब्दार्थ—सहस सत्त = सात सहस्र। कप्परिंय भेष = कपाली वेष। तिन वारं = उस समय। गोप तेग = गुप्त तलवारें (आजकल गुप्त तलवारें बहुत अधिक मात्रा में देखी जाती हैं। गुपत = गुप्त ढंग से, छिपाकर। कंपट कावरि = नकली काँवरें (जब यात्री तीर्थयात्रा करके लौटते हैं प्रायः बद्रीनाथ से तो जल की काँवरे भ... ...ते हैं। किहुन = किसी ने।

फरस—परशु। डंड = दण्ड, दण्डा। सिंगि = सिंहतुल्य वीर। सथ्थ—साथ। समाही = प्रवेश कर गये। हरि = भगवान् का स्थान। उतकंठ कार = उत्कन्ठा पूर्वक। पै लग्गी = पैर छुए। परदच्छि फिरि = फिर प्रदक्षिणा की।

प्रसंग—पृथ्वीराज तथा उसके वीर सामन्त किस छल से देवालय में प्रवेश करते हैं, यही उक्त कवित्त के वर्णन का विषय है।

व्याख्या—पृथ्वीराज की सेना के सात सहस्र वीरों ने उसी समय कपाली वेष धारण किया। उनमें से कुछ वीरों ने गुप्त तलवारें गुप्त से धारण कर रखी थीं, जिससे दूसरे पक्ष के लोग यह समझें कि वे लोग महात्मा हैं जो तीर्थाटन करके आये हैं तथा महादेव पर जल चढ़ाना चाहते हैं। कुछ वीर ने परशु धारण किये, कुछ ने छुरियाँ पकड़ीं, कुछ के हाथी में चक्र थे, कुछ ने त्रिशूल धारण कर रखे थे (कपाली लोग त्रिशूल ही धारण किया करते हैं) तथा कुछ वीरों ने दण्डे ले रखे थे। चौहान राजा पृथ्वीराज ने सिद्ध का वेष धारण कर रखा था। इन लोगों के मन्दिर में प्रवेश करते ही दूतों ने इन्हें वह स्थान बता दिया जहाँ पर भगवान् की मूर्ति विराजमान थी। वहाँ जाकर पृथ्वीराज ने देखा कि वह बाला शशिवृता बड़ी उत्कण्ठापूर्वक भगवान् के चरण छुकर प्रदक्षिणा कर रही थी।

विशेष—राजा की नीति के चार चरण होते है—(१) साम, (२) दाम (३) दण्ड, (४) भेद। यहाँ पर चौथे चरण अर्थात् भेद का अवलम्बन लिया गया है। जब राजा यह देखता है कि उसके कार्य की सिद्धि साम, दाम तथा दण्ड से नहीं होती, तभी वह भेद का आश्रय लेता है। पृथ्वीराज जैसा नीति-कुशल राजा भला ऐसे अवसर को क्यों हाथ से जाने देता।

॥ अरिल्ल ॥

फिरि परदच्छि बाल अपु लग्गी ॥
सुमन काम कामना सुभग्गी ॥
मन मन बंधि कियौ हथ लेवं ॥
सुमन मन्त्र प्रारम्भ सुदेवं ॥ १३० ॥

शब्दार्थ—अपु लग्गी = स्वयं लग गयी, माथा टेक दिया। सुमन = पुष्पों (के सदृश कोमल)। काम कामना = कामेच्छा। सुभग्गो = सुभग, सुन्दर। (सुदेवं देवता की, शंकर की।

प्रसंग—प्रस्तुत अरिल्ल में शशिवृता की पूजा-विधि का वर्णन है।

व्याख्या—प्रदक्षिणा करने के बाद बाला ने भगवान् की मूर्ति के सामने अपना माथा टेक दिया, किन्तु उसके मन में तो पुष्पों के समान सुन्दर कामेच्छा जाग्रत थी, अर्थात् उसका ध्यान अब भी पृथ्वीराज की ओर लगा हुआ था। उसने अपने मन को फिर भगवान् के ध्यान में बांधा, हाथ में पुष्प लिये तथा भगवान् शंकर के स्तुतिपरक मन्त्रों का उच्चारण प्रारम्भ हुआ।

॥ दूहा ॥

उतरि बाल चौंडोल ते। प्रीत प्रात छुटि लाज॥
शिवहिं पूजि अस्तुति करी। मिलन करे प्रथुराज॥१३१॥

शब्दार्थ—प्रीत प्रात = प्रेम को प्राप्त करने के लिये। छुटि लाज = लज्जा का परित्याग कर दिया।

प्रसंग—शिवाराधना के समय भी पृथ्वीराज का ध्यान उसके हृदय में समाया हुआ था।

व्याख्या—अब बाला पालकी से उतरी पृथ्वीराज के प्रेम को प्राप्त करने के लिए उसने समस्त लज्जा का परित्याग कर दिया था। भगवान् शंकर की आराधना करने के बाद उसने उनकी स्तुति की। आराधना करते समय वह भगवान् से पृथ्वीराज के मिलने का ही वर माँग रही थी।

टिप्पणी—इस दूहे के पूर्व के अरिल्ल में यह बताया जा चुका है कि शशिवृता ने देव को अर्पित करने के लिए पुष्प हाथ में लिये तथा देवपरक मंत्रों का उच्चारण किया गया, किन्तु इस दोहे में कवि फिर कहता है 'उतरि बाल चौंडोल ते।' वस्तुतः बात यह है कि 'पृथ्वीराज रासो' की प्रतियाँ, जिन्हें कुछ सीमा तक प्रामाणिक माना जा सकता है, खण्डित अवस्था में मिली हैं। इसलिए पाठ को एक क्रम में रखना बड़ा कठिन कार्य हो गया है। इसमें कोई सन्देह

नहीं कि विद्वान संकलनकर्ताओं ने इस विषय की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है किन्तु इसके पश्चात् भी पाठक्रम में गड़बड़ी होना स्वाभाविक ही है।

॥ कवित्त ॥

सहस सत्त कप्परिय। भेष कीनों तिन बारं॥
कपट कंध कावरिय। घसिय देवी दरबारं॥
सर्व शस्त्र आरम्भ। हस्त आरम्भ सुरी सल॥
घसिय भीर सम्मूह। जूह पाई समंडि कल॥
दलप्रबल उदधिज्यों मथन कज। भुज सुकिस्न चहुआँन किय॥
शशिवृत बाल रंभह समह। मलिय गंठि बंधन सुहिय॥ १३२॥

शब्दार्थ—सहस सत्त = सात सहस्र। कप्परिय = कपाली, कापालिक। तिन वारं = उस समय। कपट कावरिय = दिखावटी काँवरें। घसिय = प्रवेश किया। देवी दरबार = देवी के मन्दिर में। सर्व = सबने। शस्त्र आरम्भ = शस्त्रों को प्रारम्भ किया, युद्ध करने लगे। सुरीसल = बहुत अधिक क्रोधपूर्वक। भीर सम्मह = पृथ्वीराज के सामन्तों का समूह। समंडि कल = सुन्दरता से, अर्थात् उपयुक्त मोर्चे देखते हुए (चारों ओर) छा गये। दल = सेना। उदधि = समुद्र। मथन कज = मन्थन करने के लिये। किस्न = विराटरूपधारी कृष्ण। रंभह समह = रम्भा नामक अप्सरा के समान। सुहिस = (शशिवृता तथा पृथ्वीराज के सुन्दर हृदयों में।

प्रसंग—पृथ्वीराज किस प्रकार छलपूर्वक मन्दिर में प्रवेश करके शशिवृता को प्राप्त करता है, यही प्रस्तुत छन्द का वर्ण्य-विषय है।

व्याख्या—उसी समय पृथ्वीराज की सेना में से सात सहस्र वीरों ने कापालिक-वेष धारण किया। वे वीर दिखावटी काँवरें अपने कन्धों पर रखे हुए देवी के मन्दिर में प्रविष्ट हो गये। क्रोधित होकर उन सभी नें शस्त्राघात प्रारम्भ कर दिया। वीरों का सम्पूर्ण समुदाय भीड़ में होता हुआ वहाँ प्रविष्ट होकर उपयुक्त मोर्चों पर छा गया। चौहानवंशी राजा पृथ्वीराज ने उदधि के समान उमड़ती हुई प्रबल सेना का मन्थन करने के लिए अपनी भुजाओं को विराटरूपधारी कृष्ण के तुल्य बना लिया। इन्हीं भुजाओं के बल पर उसे

रम्भा के समान सुन्दरी शशिवृता प्राप्त हुई। शशिवृता तथा पृथ्वीराज दोनों के मिलने पर उनके शुभ हृदयों का उसी समय गठवन्धन हो गया।

विशेष—पृथ्वीराज ने वड़े चातुर्य से कार्य लिया। यदि उसने तथा उनके सैनिकों ने कापालिक-वेष धारण न किया होता और शशिवृता को प्राप्त करने के लिए सीधे युद्ध प्रारम्भ कर दिया जात्ता, तो शशिवृता को अवश्य छिपा दिया जाना और सम्भव था कि वह सुन्दरी उसे इतनी सरलता से प्राप्त न हुई होती।

टिप्पणी—जैसा कि इस कवित्त के पूर्व के दोहे की टिप्पणी में कहा जा चुका है कि 'पृथ्वीराज रासो' की खण्डित प्रतियां उपलब्ध होने से यथाशक्ति प्रयास करने पर भी पाठ का क्रम कुछ ठीक नहीं बन पड़ा है। जो बात इस कवित्त में कही गयी है, प्रायः उसी आशय की वात १२९ वें कवित्त में कही जा चुकी है। दो में से एक कवित्त प्रक्षिप्त सा प्रतीत होता है।

॥ कवित्त ॥

दिठ्ठि दिठ्ठ लग्गी समूह। उतकंठ सु भग्गिय॥
निष लज्जानिय नयन। मयन माया रस पग्गिय॥
छल वल कल चहुआंन। बाय कुअंरप्पन भंजै॥
दोष तीयं मिट्टयौ। उभय भरी मन रंजै॥
चौहान हथ्थ वाला गहिय। सो ओपम कविचन्दकहि॥
मानौं कि लता कंचन लहरि। मत्त वीर गजराज गहि॥ १३३॥

शब्दार्थ—दिठ्ठि दिठ्ठ लगी = दृष्टि से दृष्टि मिलो। समूह = सामने; आमना-सामना होने पर। उतकंठ = उत्कण्ठा, अभिलाषा, प्रतीक्षा की घड़ियाँ। सु = उसकी शशिवृता की। भग्गिय = भाग गयी, समाप्त हो गयी। निष = समीप में। लज्जानिय = लज्जित हो गये। मयन = कामदेव। पग्गिय = मग्न हो गये, सराबोर हो गये। कल = सुन्दर (चौहानवंशी पृथ्वीराज)। कुअंरप्पन = कौमार्य। भंजे = समाप्त कर दिया। तीय = स्त्री का, शशिवृता का। मिट्टयौ = मिट गया, समाप्त कर दिया। उभय = दोनों के, पृथ्वीराज

और शशिवृता के। भरी = भारी, वहुत अधिक। रंजेप्र = सन्न हुए। हथ्थ = हाथ से। ओपम = उपमा। लता कंचन = स्वर्णवल्ली। लहरि = लहराती हुई। मत्त = मतवाला।

प्रसंग—पृथ्वीराज द्वारा शशिवृता को पकड़ने पर शशिवृता की क्या दशा होती है, इसका मनोरम वर्णन कवि ने इस कवित्त में प्रस्तुत किया है।

व्याख्या—पृथ्वीराज तथा शशिवृता का आमना-सामना होने पर एक की दृष्टि दूसरे से मिली। उस शशिवृता की प्रतीक्षा की घड़ियां समाप्त हो गयीं। पृथ्वीराज को अपने समीप देखकर बाला के नेत्र लज्जित हो गये। दोनों के हृदय कामदेव की माया के रस में सराबोर हो गये। सुन्दर चौहानवंशी पृथ्वीराज ने छल तथा वलपूर्वक राजकुमारी का कौमार्य समाप्त कर दिया तथा अपने पावन प्रेम के कारण कुमारी शशिवृता का दोष मिट गया। कुमारी अवस्था में हृदय में कामभावना आने के कारण पीछे शशिवृता को सुदोषिता कहा गया है, किन्तु अब तो उस राजा ने जिसके प्रति उसके हृदय में कामेच्छा जाग्रत हुई थी, स्वयं आकर ग्रहण कर लिया, अतः कुमारी का वह दोष अब मिट गया। दोनों के हृदय उस समय अतीव प्रसन्न हुए। जिस समय राजा पृथ्वीराज ने अपने हाथों से बाला को ग्रहण किया, उसकी उपमा देते हुए कवि चन्द कहता है कि उस समय ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मानो श्रेष्ठ मतवाले हाथी ने लहराती हुई स्वर्णबल्ली को पकड़ लिया हो।

विशेष—कवित्त की अन्तिम दो पंक्तियों में कवि ने पृथ्वीराज की तुलना मतवाले हाथी से करते हुए तथा शशिवृता की तुलना स्वर्णलता से करते हुए उपमा अलंकार का चित्ताकर्षक विधान करके पाठक के समक्ष पृथ्वीराज द्वारा शशिवृता के ग्रहण का सजीव चित्र प्रस्तुत कर दिया है।

॥ चन्द्रायना ॥

गहत बाल पिय पानि। सु गुर जन संभरे॥
लोचन मोचि सुरंग। सु अंसु बहे षरे॥
अपमंगल जिय जानि। सु नेंन मुष बही॥
मनों खंजन मुष धुत्ति। भरक्कत नंषही॥ १३४॥

शब्दार्थ—पिय = प्रियतम । पानि = हाथ । सु = उसके शशिवृता के । संभरे = (युद्ध करने को) प्रस्तुत हुए । मोचि = छुड़ाकर । सुरंग = सुन्दर रंगों को । अंसु = आँसू, अश्रु । षरे = खूब, प्रभूत मात्रा में । अपमंगल = अपना मंगल, अपना कल्याण । नेंन मुष = नेत्र-मार्ग से । षंजन = खंजन पक्षी मुष = मुख । मुत्ति = मोती, मुक्ता । भरक्क = भर-भरक्क । नंषहीं = डाल रहे हों ।

प्रसंग—जब पृथ्वीराज शशिवृता को पकड़ लेता है, तब शशिवृता के नेत्रों से हर्षाधिक्य के कारण अश्रुधारा प्रवाहित होती है । उसी का सजीव चित्रण यहाँ है ।

व्याख्या—जिस समय बाला का हाथ उसके प्रियतम ने पकड़ा, उस समय शशिवृता की ओर के लोग युद्ध करने के लिये प्रस्तुत हो गये । हर्षाधिक्य के कारण उसके आंसू उसके नेत्रों से सुन्दर रंगों को छुड़ाते हुए प्रभूत मात्रा में बहने लगे । नेत्रों के चारों ओर जिन रंगों से चित्र-रचना की गयी थी, अश्रुओं के साथ उन रंगों का छुटना अनिवार्य ही था । कुमारी ने अपने हृदय में यह भली प्रकार समझ लिया कि यह उसका अपना मंगल ही है जो कि पृथ्वीराज उसे लेने के लिये आया है । वही उसका मंगल मानो उसके नेत्र-मार्ग से बह रहा हो । कहने का तात्पर्य यह है कि अपने मंगल के समय वह हर्ष से इतनी विभोर हो गयी कि उसका वह हर्षसूचक अश्रुओं की धारा का बांध टूट ही गया और मानो वही मंगल अश्रु रूप में बाहर आया हो । उसकी उस अश्रु-लड़ी को देखकर ऐसा लगता है, जैसे मानो खन्जन पक्षी अपने मुखों में मोती भर-भरकर डाल रहे हों । कवि-परम्परा से सुन्दर नेत्रों की उपमा खन्जन पक्षी के नेत्रों से दी जाती रही है । यहाँ पर कवि कहता है कि उसके नेत्र खन्जन पक्षी के नेत्र न होकर स्वयं खन्जन पक्षी हैं जो अपने मुख से मुक्ता उगल रहे हों ।

विशेष—प्रस्तुत छन्द में उत्प्रेक्षा अलंकार की चरम परिणति दिखाई पड़ती है । वाह री कवि-कल्पना ! जिसने शशिवृता के नेत्रों को स्वयं खण्जन पक्षी का रूप दे दिया ।

॥ चन्द्रायना ॥

दुहु कपोल कल भेद। सुरंग ढरक्कही॥
सज्जन बाल बिसाल। सु उरज षरक्कही॥
सो ओपम कवि चन्द। चित्त में बस रही॥
मनु कनक कसौटी मंडि। म्रग्ग मद कस रही ॥१३५॥

शब्दार्थ—कल = सुन्दर। सुरंग = सुन्दर रंग के आँसू। ढरक्कही = ढलते हैं। उरज = उरोज, कुच। षरक्कही = टूट जाते हैं। ओपम = उपमा। म्रग्ग मद = मृगमद, कस्तूरी।

प्रसंग—राजकुमारी के अश्रुओं का ही वर्णन चल रहा है।

व्याख्या—सुन्दर रंग के आंसू नेत्रों से निकल कर राजकुमारी के सुन्दर सुकुमार कपोलों पर आकर ढलकते हैं। तदनन्दर वे आंसू उसके उन्नत उरोजों से टकराकर चूर-चूर हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होताहै जैसे मानो कवि ने यहा बात कालिदास के 'कुमार सम्भव' के पंचम सर्ग के'पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिता वाली वात में ग्रहण की हो। शशिबृता के आंसुओं की उस स्थिति की तुलन करते हुए कवि चन्द कहता है कि उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे मानो स्वर्ण की कसौटी पर कस्तूरी कसी जा रही हो।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

॥ गाथा ॥

मृग मद कसयति चित्ते। मितं पुनरोपि चित्तयं॥
अजहूं कन्ह वियोगे। कालिंदी कन्हयो नीरं ॥१३६॥
गहियं गह गह कंठो। वचनं संजनाइं मिठ्ठयो कहियं॥
जानिज्जै सतपत्नं। वंधे सदाइ भवरयं गहियं ॥१३७॥
तपतं दिन्न में रहियं। अंग तपताइ प्परं होइ॥
जानिज्जै कसु लालं। घटनो अंग एकयो सरिसौ ॥१३८॥
अपमंगल अल बाले। नेनं नषाइ नष किसलयौ॥
जानिज्जै धम क्षपनं। सपमतरो दत्तथ धनयं ॥१३९॥

शब्दार्थ—मृग मद कसयति = कस्तूरी जिसके अन्दर है, ऐसा हिरण। मित्तं = मित्र, प्रियतम पृथ्वीराज। चित्तयं वसयं = चित्त में बसा हुआ था। कन्ह = कृष्ण। वियोगे = वियोग में। कालिंदी = यमुना। कन्हयो = कृष्ण वर्ण का। नीरं = जल। गहियं = पकड़ने पर। गह गह कंठो = कण्ठ गद्‌गद् हो गया। संजनाइं साजन से, प्रियतम से। मिठ्ठयो = मीठा। कहियं कहा। तपताइ = ताप। उप्परं = ऊपरी, बाह्य। कसु लालं = यहाँ पर 'स कुलालं' पाठ होना चाहिए 'कुलाल' का अर्थ 'कुम्भकार' हैं। घटनो = घाट का; घड़े का। एकयौ = एक सा। अपमंगल = अपने मंगल के समय। अल = अलि, सखी। नेनं नषाइ = नेत्रों के समीप आने पर। नष = नखरा। किस-लयों = क्यों लिया है, क्यों करती है। कृपन = कृपण, कन्जूस। सपनंतरों दत्तयं = स्वप्न में दिये हुए के तुल्य।

व्याख्या—यद्यपि कस्तूरी हिरण की नाभि में रहती हैं फिर भी वह उसे वन में ढूंढता फिरता है। कबीरदास ने भी कहा है—'कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूंढै वन मांहि।' इसी प्रकार शशिवृता का प्रियतम पृथ्वीराज उसके हृदय में बसा हुआ था, किन्तु फिर भी वह उसे दूर मानती थी। आज प्रथम मिलन के अवसर पर वही पृथ्वीराज पुन; उसके हृदय में बस गया। यह सत्य ही है कि प्रिय से दूर रहकर प्रेयसी की दशा बड़ी शोचनयी होती है। कृष्ण के वियोग में यमुना का जल आज भी काला दिखाई देता है। इस दृष्टान्त का आशय यह है कि दूर रहते हुए भी प्रेमीजन एक-दूसरे में तन्मय रहते हैं जब पृथ्वी-राज ने शशिवृता का हाथ पकड़ा तो उसका कण्ठ गद्‌गद हो गया और वह अपने प्रियतम से मीठी वचन बोली। उस समय शशिवृता का वह धीमा स्वर इतना मधुर था जैसे मानो बन्द हुए कमल में भ्रमर गुन्जन कर रहा हो। कहने का आशय यह है कि पृथ्वीराज की क्रोड़ में स्थित शशिवृता के मीठे वचन बन्द कमल में स्थित भ्रमर के गुन्जन के समान प्रतीत हो रहे थे। शारीरिक ताप तो बाह्य होता है, किन्तु हृदय का संताप अन्दर ही बना रहता है। जैसे कुम्भकार का घट तप्त होने पर भो उसका वाह्य रूप यथावत् रहता है, ठीक वैसी ही स्थिति राजकुमारी की थी। वह बहुत दिनों से अपने प्रियतम

के विछोह के कारण संतप्त थी, किन्तु आज के मिलने समय उसका बाह्य रूप स्वस्थ दिखाई देता था, किन्तु अन्दर का सन्ताप अन्दर ही रह गया। शशिवृता की एक चतुर सखी को चुहलबाजी सूझी। वह कुमारी से कहने लगी—हे सखि, अपने मंगल के समय प्रियतम के समक्ष होने पर नखरा किस लिए करती है। जैसे एक कृपण प्रभूत मात्रा में धन रखते हुए भी उसका देना स्वप्न-तुल्य समझता है, वैसे ही तेरी भी यह कृत्रिम अनिच्छा कृपण के समान है।

विशेष—१३६वें गाथा में दृष्टान्त अलंकार तथा शेष तीनों गाथाओं में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

॥ कवित्त ॥

गहि शशिवृत्त नरिंदं । सिढी लघंत ढहि थोरी ॥
काम लता कल्हरी । पेम मारूत झकझौरी ॥
वर लीनी करि साहि । चंपि उर पुठ्ठि लगाई ॥
मन सुरंग सोइ वत्त । कंत लगि कान सुनई ॥
नृप भयौ रुद्द करुना सुत्रिय । बीर भोग वर सुभर गति ॥
सगपन सुहास बीभच्छरिन । भय भयान कमधज्ज दुति ॥ १४० ॥

शब्दार्थ—गहि = पकड़कर। नरिंद = नरेन्द्र पृथ्वीराज। सिढी = सीढ़ी सोपान। लंघत = लाँघते, चढ़ते। ढहि थोरी = जरा लुढकी, थोड़ा पीछे हटी। कल्हरी = कोमल। पेम मारुत = प्रेम पवन। वर = वर, दूल्हा पृथ्वीराज। करि साहि = हाथ से पकड़कर। चंपि = शीघ्रता से। पुठ्ठि लगाई = पीठ से लगा ली, घोड़े पर चढ़ा ली। सुरंग = सुन्दर। रुद्द = रौद्ररस। सुत्रिय = स्त्री में, राजकुमारी में। बीर भोग = वीर रस की निष्पत्ति। बीर = पराक्रमी। सुभर = सुभट, योद्धा, सामन्त। सगपन = सम्बन्धियों में। सुहास = हास्य (रस)। बीभछ = बीभत्स। रिन = रण में, युद्धस्थल में। भय भयान = भयानक (रस) हुआ।

प्रसंग—पृथ्वीराज द्वारा शशिवृता को पकड़कर लिये जाने पर किन-किन में किस-किस का संचार हुआ यही इस कवित्त में वर्णित है।

व्याख्या—सीढ़ियों को लाँघते हुए राजा पृथ्वीराज ने ज्यों ही शशिवृता को हाथ से पकड़ा त्यों ही वह लज्जा के कारण कुछ पीछे को हटी, किन्तु पृथ्वीराज ने उसे इस प्रकार पकड़ लिया, जैसे मानो कोमल काम-लतिका को प्रेम-पवन ने झकझोर लिया हो । दूल्हा पृथ्वीराज ने हाथ से पकड़ कर उसे अपने हृदय से लगाकर घोड़े की पीठ पर बिठा लिया । प्रियतमा ने अपने मन की सुन्दर बात प्रियतम के कान में कह दी । उस समय राजा पृथ्वीराज में रौद्र रस, राजकुमारी में करुणरस, वीर सामन्तों में वीर रस, शशिवृता के सम्बन्धियों में हास्य रस, युद्धस्थल में वीभत्स रस तथा कमधज वीरचन्द में भयानक रस दिखाई दिया ।

विशेष—'गहि शशिवृता नरिंद । सिढ़ी लंघत ढहि थोरी ॥ काम लत कल्हरी । पेम मारुत झकझोरी ॥' उपमा अलांकर का सुन्दर निदर्शन है ।

टिप्पणी—तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के 'बालकाण्ड' में धनुर्भंग के अवसर पर विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न रस दिखाइ पड़ने का जो वर्णन है, उस पर चन्द वरदाई के उपर्युक्त वर्णन की छाप प्रतीत होती है ।

॥ दूहा ॥

वीर गत्ति संधिय सुमति । वृत्त अवृत्त न जाइ ॥
धरी एक आवृत्त रषि । सुवर बाल अनुराइ ॥१४॥
बाल स बैंर स बैर त्रिय । भान विरुद्ध न कीन ॥
सकल सेन साधन धरी । कलहंकृत गति चीन्ह ॥१४२॥

शव्दार्थ—वीर गत्ति = बीर गति । संधिय = साधन किया । सुमित = श्रेष्ठ मति वाले । वृत्त = व्रत, प्रतिज्ञा । अवृत्त = निष्फल । न जाइ = न हो जाय । आवृत्त रखि = घेरे रखा । सुबर = उस समय । वाल अनुराइ = वालिका सहित राजा को । वाल सबैंर = वालिका का मंगल-अवसर । वैर त्रिय = स्त्री-हरण के कारण शत्रुता, बालिका के अपहरण से उत्पन्न शत्रुता । विरुद्ध न कीन = विरोध नहीं किया । साधन घरी = शस्त्र परीक्षा की घड़ी । कलहंकृत = कलह-पूर्ण । गति = दशा, मार्ग । चीन्ह = पहचाना, अनुसरण किया ।

प्रसंग—पृथ्वीराज जैसे पराक्रमी राजा के लिए यह एक लज्जास्पद बात थी कि वह शशिवृता को लेकर वहाँ से भाग खड़ा होता, अतः अपने निश्चय के अनुसार वह वहीं डटा रहा। कुछ लोग शस्त्र-परीक्षा के लिए उसे घेर लेते हैं।

व्याख्या—श्रेष्ठ मति वाले पृथ्वीराज ने वीरगति का साधन किया। उसने युद्ध करने का व्रत ले रखा था। उसका व्रत निष्फल न हो जाय, इसलिए वह वहीं डटा रहा। उस समय विपक्षी वीरों ने बालिका-सहित उस राजा को एक घड़ी भर घेरे रखा। बालिका का मंगल-अवसर जानकर बालिका के अपहरण के कारण उत्पन्न शत्रुता का भी बदला राजा भान ने नहीं लिया। उसने पृथ्वीराज का किसी प्रकार का विरोध नहीं किया, किन्तु अन्य विपक्षी वीरों ने शस्त्र-परीक्षा की घड़ी जानकर कलहपूर्ण मार्ग का अनुसरण किया।

विशेष—'वृत्त; 'अवृत्त' तथा आवृत्त' शब्दों का प्रयोग करके कवि ने ध्वनि-सौन्दर्य का सृजन किया है। 'स वैर' और 'स वैर' में यमक अलंकार है। पहले 'स वैर' का अर्थ है 'शुभ वेला या 'मंगल समय' तथा दूसरे 'स वैर' का अर्थ है 'वह शत्रुता'।

॥ अरिल्ल ॥

आवृत्त वृत्त गुन निग्रह राज। देव जुद्ध देवत्तह साज॥
है गै दल सज्जै तिहि वीर। हरि वाल चहुआँन सधीर॥ १४३॥

शब्दार्थ—आवृत्त = घिरा हुआ। वृत्त = व्रत। गुन = समझकर। निग्रह = डटा रहा। राज = राजा पृथ्वीराज। देव जुद्ध = युद्ध में देवताओं के सदृश। देवत्तह साज = (युद्ध की) सज्जा भी देवताओं के समान। हे गै दल = अश्वसेना तथा गजसेना। तिहि = उस समय। वीर = वीरचन्द। सधीर = धैर्यशाली, युद्धभूमि में धैर्य रखने वाले।

प्रसंग—पृथ्वीराज द्वारा शशिवृता का हरण देखकर वीरचन्द अपनी सेना सजाने लगा।

व्याख्या—राजा पृथ्वीराज विपक्षियो से घिरा रहने पर भी अपने व्रत का स्मरण कर डटा रहा। वह युद्ध में देवताओं के समान पराक्रमी था। उसकी युद्ध-सम्बन्धी साज-सज्जा भी देवताओं जैसी ही है। उस समय शशिवृता का धैर्यशाली पृथ्वीराज द्वारा हरा जाता देखकर वीरचन्द अपनी अश्वसेना तथा गजसेना सजाने लगा।

॥ कवित्त ॥

सवर वीर कमधज्ज । अरघ अप्पिय षग मग्गं ॥
इष अच्छित उच्छरिहि । जानि परिमाननमग्गं ॥
सार धार पुंषियै । वीर मंगल उच्चारै ॥
सवै साथ वंदियहि । सकल पूजा संभारै ॥
वर मुक्कि वरन वरनी सुवर । इह अपुव्व पिष्यौ नयन ॥
उप्पनौ वीर सिंगार संग । रुद्र वीर चोरी नयन ॥ १४४ ॥

शब्दार्थ—सवर = उस समय। वीर = वीरचन्द। अरध = अर्घ्य। अप्पिय = अर्पण कर रहा था। षग मग्गं = खड्ग के मार्ग से, खड् द्वारा। इष = इक्षु वाण। अच्छित = अक्षत, अबाध (गति से)। उच्छरहि...उछाले जा रहें थे। परिमानन ग्मगं = अगम परिमाण में, प्रभूत मात्रा में। सार धार = तलवार की धार। पुंषियै = पछी। साथ = साथी। वंदियहि = बन्दना की। पूजा संभारै = पूजा-संभार, पूजा-सामग्री। वर-दूल्हा वीरचन्द वरन = वरण। मुक्कि = छोड़ दिया। वरनी = वरण करने योग्य, दुलहन शशिवृता। इह = इस अवसर पर। अपुव्व = अपूर्व, अलौकिक, अनुपम। पिष्यौ = देखा गया। चौरी = मण्डप। नयन = पाठ 'नयन' न होकर 'सयन' होना चाहिये, 'सयन' का अर्थ 'सेना' है, किन्तु यहाँ पर उसका लाक्षणिक 'सेना-स्थल' अर्थात् 'युद्ध-भूमि' लिया जायगा।

प्रसंग—कमधज वीरचन्द एवं पृथ्वीराज की सेनाओं के मध्य रणचण्डी का विध्वंसकारी नृत्य प्रारम्भ हो जाता है।

व्याख्या—इस समय कमधज वीरचन्द अपने खड्ग से अर्घ्य अर्पण करने लगा। बाणों की सतत वृष्टि से प्रभूत मात्रा में रक्त उछाला जाने लगा।

शस्त्राघात प्रारम्भ हो गया। जिस प्रकार चारण वीरों का स्तुतिगान करते हैं, उसी प्रकार पक्षियों का कलरव ही वहाँ पर वीरों का मंगल-गान बन गया। समस्त साथी मिलकर वन्दना करने लगे। उस समय वही पूजा मानी गयी। उस समय दूल्हा वीरचन्द ने दुलहन शशिवृता का वरण करने की इच्छा छोड़ दी। उस समय वह एक अपूर्व वीर के रूप में दिखायी पड़ा। वीरचन्द के समस्त साज-बाज तो श्रृंगार रस की छटा छाने वाले थे, किन्तु उसके शरीरा-वयवों से वीर तथा रौद्र रस टपक रहा था। उस समय युद्धस्थल ही मण्डप बन गया!

॥ दूहा ॥

सिर सोहत बर सेहरौ । टोप ओप अति अंग ॥
बगतर बागे केसरे । रुधि भीजत षिमंग ॥ १४५ ॥
सकट भग्ग लइ वग्ग वर । कमधज वीर बिसेज ॥
मिले वीर वीरत्त बर । दोऊ देवत तेज ॥ १४६ ॥

शब्दार्थ—सेहरो = सेहरा । टोप = शिरस्त्राण । ओप = उपमा, छटा, शोभा । बगतर = बख्तर, कवच । बागे = बागा । केसरे = केसरिया । रुधि भीजत = रक्त-रञ्जित होने पर । विषभंग = विषम, कठिन । सकट = शकट व्यूह । भग्ग = भग्न कर दिया । लइ = ली, उठाई । वग्ग = वल्गा, लगाम । बिसेज = वैसे में उस समय । दैवत तेज = तेज में देव-तुल्य ।

प्रसंग—वीरचन्द युद्ध करते-करते अपने ही द्वारा निर्मित व्यूह का भंग करके अपने घोड़े को दौड़ाकर पृथ्वीराज से जा भिड़ता है।

व्याख्या—कमधज वीरचन्द के शिर पर बंधा हुआ सुन्दर सेहरा शिर-स्त्राण की भाँति छटा पा रहा था तथा रञ्जित केसरिया बाग कठिन कवच से होड़ कर रहा था। कमधज वीरचन्द ने उस समय अपने ही द्वारा बनाये गये शकट-व्यूह का भंग कर दिया, जब वह अपने घोड़े की वल्गा उठाकर पृथ्वीराज से जा भिड़ा। वे दोनों श्रेष्ठ वीर (पृथ्वीराज और वीरचन्द) एक-दूसरे से भिड़ गये। दोनों ही वीर तेज में देवतुल्य थे।

विशेष—'सिर सोहत वर सेंहरो । टोप ओप अति अंग ॥' में उपमा अलंकार तथा 'बगतर बागे केसरे' में रूपक अलंकार है ।

॥ दूहा ॥

चाहुआँन कमधज्ज वर । मिले लौह छुटि छाँह ॥
धार मुरै मुष ना मुरै । मरट मुच्छ क्रत जोह ॥ १४७ ॥

शब्दार्थ—लोह = लोहा, तलवार । छुटि छोह = (प्राणों का) मोह त्यागकर । मरट = बट, ताव । मुच्छ क्रत = मूँछों पर देते हुए । जोह = जो ।

प्रसंग—दोनों योद्धा एक-दूसरे पर मूँछों पर बटें डालते हुए प्रहार करने लगते हैं ।

व्याख्या—चौहान राजा पृथ्वीराज तथा कमधज वीरचन्द आमने-सामने होकर अपनी-अपनी तलवारों से एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे । उन्होंने अपने प्राणों का मोह छोड़ रखा था । लड़ते-लड़ते दोनों योद्धाओं के तलवारों की धारें मुड़ गयीं, किन्तु मुख नहीं मुड़े । कहने का आशय यह है कि शस्त्र युद्ध-योग्य न रहे, किन्तु दोनों वीरों की लड़ने की इच्छा समाप्त न हुई । युद्ध में इतना श्रम करने बाद भी वे दोनों अपनी-अपनी मूँछों पर ताव दे रहे थे ।

विशेष—वीर-भाव की प्रतिष्ठा की गई है ।

॥ दूहा ॥

इह कहि कढ्ढिय सार कम । षोलि षग्ग दोउ पानि ।
मानहु मत्त अनंग द्वै । घृत छुट्टै जम जाँनि ॥ १४८ ॥

शब्दार्थ—कढ्ढिय = निकालीं । सार = लोहा, शस्त्र, तलवार । पानि = पाणि, हाथ । मत्त = मतवाले । अनंग = कामदेव । द्वै = दो । धृत छुट्टै = पृथ्वी पर छूट पड़े हों, पृथ्वी पर युद्ध करने लगे हों । जम = यमराज ।

प्रसंग—सौन्दर्य में दोनों वीर कामदेव के समान हैं तथा युद्धस्थल में यमराज के समान भयंकर हैं, इसीलिए कवि युद्ध करते हुए दोनों वीरों को कामदेव बताते हुए भयंकरता में उनकी तुलना यमराज से करता है ।

व्याख्या—ऐसा कहकर दोनों वीरों ने कमर में कसी हुई अपनी-अपनी तलवारों को खोलकर उन्हें म्यान से बाहर कर लिया । उस समय युद्ध करते

हुए दोनों वीर ऐसे प्रतीत हो रहे थे, जैसे मानो कामदेव के अवतार करके दो योद्धा यम-रूप हो पृथ्वी पर युद्ध करने लगे हों।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार। कोमलता एवं भयंकरता का ऐसा सुन्दर समन्वय साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

॥ छंद भुजंगी ॥

मिले हथ्थ वथ्थं न सथ्थं स धारे। मनों वारुनी मत्त गज दंत न्यारे॥
उडै लोह पंतौ परे श्रोन रुंदं। मनो रुद्धि धारा बरष्षंत बुंदं॥१४९॥
घुमे घाय घायं अघायं अघायं। झुमै झार झारं झनक्कै झकायं॥
करैं जोगनी जोग काली कराली। फिरै पेट धाये मह विक्कराली॥१५०॥
परैं सूर वाहै वहथ्थी कृपानं। कढी तांत बाढ़ी मलं चारि जानं॥
धमां घम्म मत्ती महोमाहि घानों। पिंजारे सतं रुव पीजंत मानौं॥१५१॥
महादेव मालानि में गूथि मथ्थं। कहै वारवाहं वहे सूर हथ्थं॥१५२॥

शब्दार्थ—मिले = भिड़ गये। हथ्थ वथ्थं = हाथों में वस्तुएँ लेकर, हाथों में शस्त्र लेकर। सथ्थं = साथी। धारे = लिये हुए। वारुनी मत्त = मदिरा से मतवाले हुए। गजदंत = हाथी। न्यारे = अनुपम। लोह = शस्त्र। पंती = पंक्ति, समूह। श्रोन = शोण, रक्त। रुंदं = रूण्ड से, धड़ों से। रुद्धि = रोककर। धारा = धारासार (वृष्टि)। बुंदं = बुन्द (वृष्टि)। घाय घायं = घाव पर घाव। अघायं कघायं = डट-डटकर। झार झारं = अग्निस्फुलिंगों के समह। झनक्कै = झंकृत हो रही थीं। कराली = भयंकर। मह विक्कराली = महा विकराल। वाहै = बह रहे थे। वहथ्थी = बह रही थीं, तैर रही थीं। महोमाहिं = पृथ्वी पर। पिंजारे = पिंजियारा; धुना, रुई धुनने वाला। सतं = सैकड़ों। रुव = रुई, कपास। मथ्थं = मस्तक, शिर। वारवाहं = वारिवाह, मेघ।

प्रसंग—दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो जाता है, जिसका सजीव वर्णन यहाँ कवि ने प्रस्तुत किया है।

व्याख्या—वीर अपने-अपने साथियों को विना लिये ही हाथों में शस्त्र धारण करके विपक्षी योद्धाओं से भिड़ गये। युद्ध करने की धुन में मस्त वे वीर ऐसे दिखायी पड़ते थे, जैसे मानो मदिरा पीकर मतवाले बने हुए अनुपम हाथी युद्ध कर रहे हों। शस्त्रों पर शस्त्रों का वार हो रहा था। रुण्डों से

रक्त की धारा इस प्रकार प्रवाहित हो रही थी जैसे मानो बुन्द-वृष्टि का अवरोध कर धारासार-वृष्टि हो रही हो। कहने का आशय यह है कि अब तक तो युद्ध इतनी तीव्रता से नहीं चल रहा था, अतः अब तक रक्त थोड़ी सी ही मात्रा में वह रहा था, किन्तु अब घमासान युद्ध के प्रारम्भ हो जाने से रुण्डों से रक्त धारासार-वृष्टि के रूप में प्रवाहित हो रहा था। वीर डट-डटकर विपक्षी वीरों को घाव पर घाव दे रहे थे। शस्त्रों से अग्निस्फुलिंगों के समूह निकल रहे थे तथा परस्पर रगड़ खाने से वे झंकृत हो उठते थे। योगिनियाँ अपना योगसाधन कर रही थीं। कहा जाता है कि जब भयंकर युद्ध होता है तभी योगिनियों के योग-साधन का अवसर होता है। महा विकराल भयंकर काली अपने पेट को फैलाये हुए युद्धस्थल में दौड़ रही थी। स्मरण रहे, काली तभी प्रसन्न होती है जब युद्धभूमि में भयंकर रक्तपात होता है, क्योंकि वह रक्त की प्यासी होती है और उसे भरपेट रक्त युद्धस्थल में ही मिलता है। रक्त की उस धारा में पड़े हुए वीर वह रहे थे तथा अनेकों तलवारें तैर रही थीं। वीरों की आँतें निकल-निकलकर बाहर आ रही थीं। इस प्रकार चार घड़ी तक भयंकर युद्ध हुआ। भूत, वैताल, पिशाच, पिशाचिनियाँ, योगिनियाँ, काली आदि प्रसन्न, हो-होकर रक्त पीकर मत्त बने हुए थे तथा पृथ्वी पर अपने उद्धत नृत्य द्वारा उन्होंने धमाधम की ऐसी तुमुल ध्वनि उत्पन्न कर रखी थी, जैसे मानो सैकड़ों पिंजियारे रुई धुन रहे हों। मुण्डमाली भगवान् शंकर अपनी माला में वीरों के सिर पिरो-पिरोकर कह रहे थे कि वीरों के हाथ क्या ही मेघों के तुल्य वह रहे हैं।

विशेष—'घुमे घायं घायं' तथा 'झुमै झार झारं झनक्कै झकायं' में क्रमशः 'घ' तथा 'झ' की आवृति करके कवि ने अनुप्रास अलंकार की संयोजना की है। 'उडै लोह पंती परै श्रोन रुंदं। मनौं रुद्धि धारा वरष्षंत बुंदं'॥ में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

'हथ्थ', 'वथ्थ', 'सथ्थं', जैसे शब्दों की एक साथ योजना करके कवि ने नाद-सौन्दर्य का विधान किया है।

'करै जोगनी जोग काली कराली। फिरै पेट आये मह विक्कराली॥' 'महादेव मालानि में गूथि मथ्थं' जैसी पंक्तियों में बीभत्स रस का विधान है।

प्राय: परुष व्यञ्जनों का प्रयोग करके कवि ने युद्ध का दृश्य पाठक के सामने लाकर रख दिया है। कारण यह है कि कवि स्वयं एक वीर योद्धा था।

॥ मुरिल्ली ॥

हाहरे रुष कायर प्रकार। छंडीत लज्ज अरु बीर मार॥
अभ्यासै सूर जिन सूर।रूप। देवत्त भूप दिष्वै अनूप॥१५३॥

शब्दार्थ—हाहरे = गिर पड़ते थे। रुष = वृक्ष। प्रकार = तरह। छंडीत = छोड़ दिया था। लज्ज = प्रिया। सूर = वीर। सूर = सूर्य। दैवत्त = देवतुल्य।

व्याख्या—कायर वृक्ष की भाँति कटकर गिर पड़ते थे, अर्थात् जिस प्रकार वृक्ष काटा जाने पर विना किसी प्रकार का प्रतिकार किये गिर पड़ता है, उसी प्रकार कायर भी किसी वीर का तो सामना करने में असमर्थ थे, अत: जव किसी वीर की तलवार उनके लगती थी, तव वे उसका बिना प्रतिरोध किये पृथ्वी पर गिर जाते थे। वीरों ने तो अपनी-अपनी प्रियाओं का ध्यान छोड़ दिया था और मार ही मार किये जा रहे थे। वीर लोग तो युद्धाभ्यास से ही सूर्य के समान भासित होते हैं। उस समय पृथ्वीराज युद्धभूमि में देवतुल्य दिखाया पड़ रहा था।

विशेष—'सूर' और 'सूर' में यमक अलंकार है। पहले 'सूर' का अर्थ 'वीर' और दूसरे 'सूर' का अर्थ सूर्य है।

॥ कवित्त ॥

विषम जग्य आरंभ। वेद प्रारम्भ शस्त्र बल॥
है गै नर होमिये। शीश आहुत्ति स्वस्ति फल॥
क्रोधकुंड विस्तरिय। कित्ति मंडप करि मंडिय॥
गिद्धि शिद्धि वेताल। पेषि पल साकृत छंडिय॥
तुंवर सु नाग किंनर सु चर। अच्छरि अच्छ सु गावहीं॥
मिलि दान अस्स अप्पन सुमत्ति। भुगति मुगति तत पावहीं॥१५४॥

शब्दार्थ—विषम = भयंकर। जग्य = युद्ध रूपी यज्ञ। वेद = वेद-विधान। शस्त्र बल = शास्त्रों द्वारा बल प्रदर्शन। है गै = अश्व तथा गज। आहुत्ति = आहुति। स्वस्ति = स्वस्ति वाचन। बिस्तरिय = विस्तार किया गया। कित्ति =

कीर्ति । मंडिय = ताना गया । सिद्धि = सिद्धिनियाँ, योगिनियाँ । पल = मांस । साकृत = शाकल्य, हविर्द्रव्य, हवन-सामग्री । छंडिय = छोड़ा जा रहा था । चर = दूत, भाट । अच्छरि = अप्सरायें । अच्छ सु गावहीं = अच्छा गान, मंगल-पाठ । अस्स = असु, प्राण । अप्पन = अर्पण करना । भुगति = भक्ति । मुगति = = मुक्ति । तत = तत्काल ।

प्रसंग—यहाँ पर कवि ने रूपक अलंकार का आश्रय लेकर युद्ध में यज्ञ का विधान किया है ।

व्याख्या—भयंकर युद्ध-रूपी यज्ञ प्रारम्भ हुआ । शस्त्रों के द्वारा स्वबल-प्रदर्शन ही वेद-विधान बना हुआ था । अश्व, गज एवं मनुष्यों को वहाँ होम किया जा रहा था । सिर के आहुति के साथ ही स्वस्तिवाचन हो रहा था । वहाँ पर क्रोध ही के कुण्ड का विस्तार किया गया था । कीर्ति का ही मण्डप ताना गया गया था । गिद्धों, योगिनियों तथा वैतालों द्वारा वीरों का माँस इधर-उधर फेंका जाना ही हविर्द्रव्य बना हुआ था । तुम्बर, नाग, किन्नर, भाट तथा अप्सराओं का गान ही मंगल-पाठ था । समस्त वीर मिलकर मोक्ष-प्राप्ति की आकांक्षा से अपने-अपने प्राणों का विधिपूर्वक दान कर रहे थे, जिनके द्वारा वे तत्क्षण भक्ति और मुक्ति को प्राप्त कर लेते थे ।

विशेष—युद्ध में 'जग्य', 'शस्त्र बल' में 'वेद प्रारम्भ', 'है गै नर' में 'होम' 'शीश' में 'आहुति', 'क्रोध' में 'यज्ञ-कुण्ड', 'पल' में 'साकृत', 'तुंबर, नाग किन्नर, चर, अच्छरि'—गान में मंगल-पाठ तथा मृत्यु में 'सुगति' का आधान कर कवि ने सुन्दर तथा हृदयाह्लादवर्धक सांगरूपक अलंकार की योजना की है ।

॥ दूहा ॥

करि सुचार आचार सव । समद कित्ति फल दीन ॥
गुरुजन मिसि करुना करिय । कायर हाहर कीन ॥१५५॥

शब्दार्थ—सुचार = सदाचार । आचार = आचरण, व्यवहार । समद = समुद्र, मोदपूर्वक, प्रसन्नतापूर्वक । कीत्ति फल = कीर्ति-लता की फल स्वरूपा (शशिवृता) । दीन = दी, ले जाने दी । मिसि = मिस, बहाना । हाहर = हा शिव ! हा शिव ! !

प्रसंग—प्रस्तुत रूपक ही आगे बढ़ रहा है। कायरों ने उस युद्ध-रूपी यज्ञ में गुरुजनों का वेष बना लिया है और करुणा करने को कह रहे हैं।

व्याख्या—कायरों ने गुरुजन होने का बहाना करके सदाचार को व्यवहार में लाने तथा करुणा करने की शिक्षा देते हुए उस मार-काट को देखकर हा शिव ! हा शिव ! ! जैसे शब्दों का उच्चारण करते हुए प्रसन्नतापूर्वक कीर्ति-लता की फलस्वरूप शशिवृता को पृथ्वीराज को ले जाने दिया। उन्होंने शशि-वृता के हरण में किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित न किया, क्योंकि वे युद्ध से अलग हो गये थे।

विशेष—कवि ने एक बड़ी सुन्दर बात कह दी है और वह है—'गुरुजन मिसि करुना करिय।' इस उक्ति का एक अर्थ तो यह है कि गुरु लोग स्वभावतः ही दयालु होते हैं, वे हिंसा से घृणा करते हैं, अतः सदैव प्राणियों पर दया करने का आदेश देते हैं। दूसरी ओर इसका अर्थ लगता है कि कायर स्वभाव से ही डरपोक होते हैं, मारकाट देखकर उनकी रूह फना हो जाती है, और यदि किसी प्रकार युद्ध में पहुँच जाते हैं तो वीरों से प्राणभिक्षा माँगते हुए उनसे अपने पर दया करने के लिए कहते हैं, इसलिए कायरों द्वारा गुरुजन होने का बहाना बनाना स्वाभाविक ही था।

॥ दूहा ॥

तव चहुआंन सु कन्ह वर। टढ्डौ करि गुरुराज ॥
हुकम अपति छुट्टौती इम। जनु तीतर पर वाज ॥१५३॥

शब्दार्थ—कन्ह = पृथ्वीराज के एक वीर सामन्त का नाम, जो उसी का वंशज था। ठढ्डौ करि = (युद्धार्थ) खड़ा किया। कुरुराज = कुरुवंशी राजा पृथ्वीराज, भरतवंशी राजा पृथ्वीराज। छुट्टौति = टूटता है। इम = इस प्रकार।

प्रसंग—अब पृथ्वीराज अपने वीर सामन्त कन्ह को युद्ध करने की आज्ञा देता है।

व्याख्या—तब भरतवंशी राजा पृथ्वीराज ने चौहानवंशी श्रेष्ठ वीर कन्ह को युद्ध करने की आज्ञा दी। राजा का आदेश पाते ही वह वीर शत्रु-सेना पर

इस प्रकार टूट पड़ा, जिस प्रकार तीतर पर वाज पक्षी टूटता है।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

॥ कवित्त ॥

मुष छुट्टत अप वैन ॥ नैन दिठ्ठौ धावंतौ ॥
क्रम वंध वल मोह। छोह वंध्यो सुवरतौ ॥
सुवर सेन चहुआंन। सिग जद्दुनं नवाई ॥
जनु मन्दिर विय वार। ढंकि इक बार वनाई ॥
तकसीर करन दोउ अंस वर। किति मग्ग करतव्य कर ॥
अथवंत रविह आदित्य दिन। अगिन सार बुढ्ढिय कहर ॥ १५७ ॥

शब्दार्थ—वैन = वचन, आज्ञा। दिठ्ठौ = देखा गया। धावंतौ = दौड़ता हुआ, वढ़ता हुआ। क्रम बंध = क्रमवद्ध। वल = शक्ति, सेना। छोह = उत्साह। बंध्यौ = वंधा हुआ, भरा हुआ। सुव्ररत्तौ = वलता हुआ, जलता हुआ, क्रोध करता हुआ। सुवर सेन = सेना में वलशाली योद्धा। सिग = शिर। जद्दुनं = यादव (योद्धा पुंज या लक्ष्मण) ने नहीं। मंदिर = मन्दराचल। विय वार = उस समय। ढंकि = ढककर, दवाकर। इक = एक दूसरे को। वार = वारू, बालू, रेत, चूर्ण। वनाई = बना देना चाहते थे। तकसीर = अपराध, दूषित कर्म। अंस वर = श्रेष्ठ अंस। कित्त-मग्ग = कीर्ति-मार्ग। अथवंत रविहि = सूर्यास्त के समय। आदित्य दिन = आदित्यवार, रविवार। अगिनि सार = लौहाग्नि। बुढ्ढिय = वढ़ा दी। कहर = विघ्नकारी, भयानक।

प्रसंग—यहाँ पर चौहानवंशी कन्ह तथा यादव योद्धा के प्रवल युद्ध का वर्णन है।

व्याख्या—राजा पृथ्वीराज की आज्ञा पाते ही वीरचन्द कन्ह आगे बढ़ता हुआ देखा गया। उसने अपनी सेना को क्रमबद्ध किया। उत्साह तथा उमंग से भरा हुआ वह योद्धा विपक्षी वीरों पर जल-सा रहा था। जिस प्रकार चौहान राजा पृथवीराज की सेना में कन्ह एक बलशाली योद्धा था, उसी प्रकार यादव सेना में भी एक पराक्रमी भट (लक्ष्मण या पुंज) था। उसने भी कन्ह के सामने सिर नहीं झुकाया। उस समय वे दोनों मन्दराचल पर्वत के समान जान पड़े। वे एक-दूसरे को दबाकर चूर्ण बना देना चाहते थे। दोनों श्रेष्ठ

अंशधारी हिंसा के दूषित कर्म करने पर उतारू थे। कीर्ति-मार्ग पर अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए उन्होंने रविवार के दिन सूर्यास्त के समय भयंकर लौहाग्नि बढ़ानी प्रारम्भ कर दी।

विशेष—वीर कन्ह तथा यादवराज को मन्दराचल का रूप देते हुए कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग किया है 'कित्ति मग्ग' में रूपक अलंकार है।

प्रस्तुत कवित्त में वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

॥ गाथा ॥

मुष घुट्टा नृप वंनं। कै दिठ्ठाय धावता नैनं॥
वज्जी वाहु सुवारं। धार दारि मत्तयौ धरयं॥ १५८॥

शब्दार्थ = कै = कि। वज्जी बाहु = वज्र के तुल्य भुजाओं वाला। सुवारं = उस समय। धार = (तलवार की) धार से। ढारि = गिरा दिया। मत्तयौ = मतवाले हाथियों को। धरयं = पृथ्वी।

प्रसंग—चौहानवंशी कन्ह के पराक्रम का वर्णन है।

व्याख्या—इधर राजा के मुख से आज्ञा निकली ही थी कि वह वीर कन्ह विपक्षी योद्धाओं की ओर दौड़ता दिखायी दिया। उस समय वज्र के सदृश सुदृढ़ भुजाओं वाले उस वीर कन्ह ने अपनी तलवार की धार से अनेकों मतवाले हाथियों को काटकर पृथ्वी पर गिरा दिया।

॥ कवित्त ॥

भान कुँअरि शशिवृत्त। नैन श्रृंगार सुराजै॥
वीर रूप सामंत। रुद्र प्रथिराज विराजै॥
चन्द अदम्भुत जानि। भए कातर करुनामय॥
बीभछ अरिन समूह। सांत उप्पनौ मरन भय॥
उप्पज्यौ हास अपछरि, अमर। भौ भयान भावी विगति॥
कूरंभराव प्रथिराज वर। लरन लोह चिंते तरनि॥१५९॥

शब्दार्थ = भान कुँअरि = राजा भान के छोटे भाई पुंज की पुत्री। श्रृंगार = श्रृंगार रस। वीर = वीर रस। रुद्र = रौद्र। चन्द = कवि चन्द। अदम्भुत = अद्भुत। कातर = कायर। करुनामय = करुण रस से युक्त।

वीभछ=बीभत्स। सांत=शान्त रस। उप्पनौ=उत्पन्न हुआ। मरय भय=मरे हुओं में, मृतकों में। उप्पज्यौ=उत्पन्न हुआ। हास=हास्य रस। अप्छरि=अप्सराओं में। अमर=देवता। भौ=हुआ। भयान=भयानक। भावी विगति=भविष्य के विषय में सोचकर। कूरंभराव=कमधज वीरचन्द। लरन लोह=लड़ने को लोहा। चिंते=सोचा, विचारा, चाहा। तरनि=सूर्य (के अस्त होने पर भी)।

प्रसंग—सूर्यास्त होने पर भी जब वीरचन्द तथा पृथ्वीराज ने युद्ध ठानने का निश्चय किया, तो उस समय किन-किन में, कौन-कौन से रस की निष्पत्ति हुई, यही प्रस्तुत छन्द का वर्ण्य विषय है।

व्याख्या—जब कमधज वीरचन्द ने और श्रेष्ठ वीर पृथ्वीराज ने सूर्यास्त के समय भी लोहा लेने का निश्चय किया, तो उस समय राजा भान के भाई पुंज की पुत्री शशिवृता के नेत्रों में शृंगार रस, सामन्तों में वीर रस, पृथ्वीराज में रौद्र रस, कविचन्द में अद्भुत रस, कायरों में करुण रस, शत्रु समूह में वीभत्स रस, मृतकों में शान्त रस, (अपनी सखी का मंगल अवसर जानकर) अप्सराओं में हास्य रस तथा भविष्य के विषय में अर्थात् भयानक विनाश के विषय में सोचकर देवताओं में भयानक रस भर गया।

विशेष—कवि शृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत, करुण, वीभत्स, शान्त, हास्य तथा भयानक इन नौ रसों के नाम गिनाकर पाठक को अपने रस सम्बन्धी ज्ञान का परिचय देना चाहता है।

॥ छंद त्रिभंगी ॥

कवि चन्द सुबरनं, करै सुकरनं, सूरह लरनं, भर भिरनं ॥
तिरभंगी छंद नाग नरिंदं कथ्थ करिंदं दुष हरनं ॥
पढ मंह दह मत्ता, पूनि अठ मत्ता, अष्टवसु मत्ता, रस मत्ता ॥
घन घाइ सघता रस सरत्ता मेगल मत्ता करि धत्ता ॥१६०॥

शब्दार्थ—सुवरनं=सुन्दर वर्णन। सुकरनं=कर्णप्रिय। सूरह=वीरों का। लरनं=लड़ना। भर=भटों का। भिरन=भिड़ना। तिरभंगी छन्द=त्रिभंगी छन्द के माध्यम से। नागेन्द्र राजा पृथ्वीराज की। कथ्य=कथा।

करिदं = कर रहा हूँ, कह रहा हूँ। दूष हरनं = दुख दूर करने वाली। पढमंइ = पढ़ने पर। दह मत्ता = दुगना। अठ मत्ता = आठगुना। अपुवसु मत्ता = प्राणदायिनी। रस मत्ता = रसवती। घन = घने, बहुत। घाइ = घाव। रस सरत्ता = रस सरसाने वाली। मेगल मत्ता = मतवाले हाथियों के वर्णन से युक्त। करि घत्ता = जिसमें हाथ का ग्रहण किया है, हरण से सम्बन्धित।

प्रसंग—यहाँ पर कवि यह बताता है कि वह यहाँ पर किस प्रकार की कहानी कहने जा रहा है।

व्याख्या—कवि चन्द वीरों के लड़ने का तथा भटों के भिड़ने का कर्णप्रिय सुन्दर वर्णन कर रहा है। वह कहता है कि मैं त्रिभंगी छन्द का आश्रय लेकर राजा पृथ्वीराज की ऐसी कहानी कह रहा हूँ जो दुख हरने वाली है, जिसके पढ़ने से व्यक्ति में दुगुना उत्साह आ जाता है, जिसके मनन करने से उसमें आठगुना उत्साह भर जाता है, जो प्राणदायिनी है, जो रसवती है, जिसमें ऐसे वीरों का उल्लेख है जिनके अपने शरीर पर अनेकों घाव लगे हैं जिससे रस टपकता है, जिसमें मतवाले हाथियों का वर्णन है तथा जो शशिवृता के अपहरण से सम्बन्धित है।

॥ छंद त्रिभंगी ॥

वज्जै बर कोहं लग्गैं छक्कै छोहं तजि मोहं ॥
सूरा तन सोहं स्वामिन, दोहं मत्तै ढोहं रिन डोहं ॥
वर बान बिछुट्टै वगतर फुट्टै पारन षुट्टै अहुट्टै घर तुट्टं ॥
तरवारिन तुट्टै धम्मर लुट्टै अंग अहुट्टै गाहि झुट्टै ॥१६१॥

शब्दार्थ—कोह = क्रोध। लग्गै = लगने पर। लोहं = शस्त्र। छक्कै = भाग जाता है। छोह = मोह। सूरा = वीरों के। सोहं = सुशोभित हो रहे हैं। स्वामिन = स्वामी की। दोहं = दुहाई। मत्तै = मतवाले वीर। ढोहं = ढो रहे हैं। रिन = रण में। ढोहं = द्रोह को। वाँन = बाण। बिछुट्टै = छूट रहे हैं। वगतर = बख्तर, कवच। फुट्टै = फूट जाता है। पारन = तहें। षुट्टै = टूट जाती हैं। अहुट्टै = लौटते हैं। धर = धड़। तुट्टै = टूटकर। धम्मर = धड़। लुट्टै = लौटने लगते हैं। अंग = शरीरावयव।

प्रसंग—पुनः युद्ध-वर्णन ।

व्याख्या—तलवार के लगते ही वीर अपना समस्त मोह एवं ममता छोड़कर क्रोध करने लगते हैं। उस समय वीरों के रक्तरञ्जित शरीर अनुपम शोभा पा रहे हैं। वे वीर अपने-अपने स्वामी की दुहाइ देते हुए रणक्षेत्र में अपने विपक्षियों के प्रति द्रोह का वहन कर रहे हैं, अर्थात् युद्ध में अपने विपक्षियों के प्रति उनमें क्रोध की मात्रा का प्रावल्य हो गया है। तीव्र बाण छूट रहे हैं। उन बाणों के लगते ही कवच टूट जाता है तथा बाण कवच के अन्दर प्रवेश करता हुआ उसकी तहों कों भी तोड़ देता है। धड़ टूट-टूटकर पृथ्वी पर लोट रहे हैं। तलवारों का प्रहार होते ही धड़ टूट-टूटकर गिरने लगते हैं। समस्त शरीरावयव छिन्न-भिन्न हो इधर-उधर पृथ्वी पर फैले पड़े हैं।

विशेष—कवि ने ऐसे पुरुष व्यञ्जनों की अवतारण की है जो पाठक के कानों में शस्त्रों की झंकार को उत्पन्न कर उसके मस्तिष्क में युद्ध का एक दृश्य छा देते हैं।

॥ छंद त्रिभंगी ॥

वीरा रस रज्जं सूर सगज्जं सिन्धुअ बज्जं गज गज्जं ॥
अच्छरि तन मज्जं बरै वर जंजं चित्ते बज्जं मन मज्जं ॥
कायर रन भज्जं तज्जि सलज्जं स्वामिसु कज्जं भर मज्जं ॥
जम दढ्ढ सु सज्जे हथ्थह मज्जे छिन्छन छज्जे रिन रज्जै ॥ १६२ ॥

शब्दार्थ—वीरा रस रज्जं = वीर रस से ओतप्रोत। सुर = सूर, वीर। सगज्जं = गर्जना सहित, गर्जना करते हुए। सिन्धुअ = समुद्र की भाँति। गज = हाथी। गज्जं = चिंघाड़ रहे हैं। अच्छरि = अप्सरायें तन मज्जं = रक्तरञ्जित शरीर वाले। वरे = वरण कर रही है। बर = वर, दूल्हा। जंजं = जो-जो। चित्ते = चित्त में। भज्जं = भाग गये। तज्जि सलज्जं = लज्जा (प्रिया) को छोड़कर, अपनी-अपनी प्रियाओं को विस्मृत करके। स्वामिसु कज्जं = स्वमियों के कार्य के लिए। भर = भट, योद्धा, वीर। सज्जं = सज्जित होकर। जम = यम, काल, मृत्यु। दढ्ढ = दाढ़। हथ्थह = हाथी। मज्जे = निमग्न हो गए। छिन्छन = [illegible] में। छज्जे = शोभा पा रहा था। रिन = रण।

प्रसंग—युद्ध का ही वर्णन चल रहा है ।

व्याख्या—वीर वीर रस से ओतप्रोत होकर गर्जना कर रहे हैं। हाथी तरंगायमान समुद्र के गर्जन की भाँति चिंघाड़ रहे हैं। अप्सरायें रक्त-रञ्जित शरीर वाले उन-उन वीरों को पति के रूप में वर्णन कर रही है, जिन-जिन पर उनका चित्त और मन होता है। कायर युद्धभूमि छोड़कर भाग गये हैं, किन्तु वीर अपने-अपने स्वामियों के कार्य के लिए अपनी-अपनी प्रियाओं को विस्मृत कर युद्ध के लिए प्रस्तुत हैं। वे वीर यम की दाढ़ के नीचे चले जाते है, अर्थात् काल-कवलित हो जाते हैं। रक्त इतना बह रहा है कि उसमें हाथी डूब गये हैं। क्षण-क्षण में युद्ध का ढंग बदल रहा है

॥ दूहा ॥

सुबर वीर पावास षिजि। कढ्ढही वंकी अस्सि।
सोभै सीस गयंद के। मनु तेरस को सस्सि ॥१६३॥

शब्दार्थ—सुबर = उस समय। षावास = खास खिदमतगार, नाई। षिजि = खीझकर, क्रोधित होकर। कढ्ढी = निकाली। वंकी = टेढ़ी। असि = तलवार। गयंद = हाथी। मनु = मानों, जैसे। सस्सि = शशि, चन्द्रमा।

व्याख्या—उस समय क्रोधित होकर नाई ने अपनी टेढ़ी तलवार निकाली। वह हाथी के ऊपर इस प्रकार सुशोभित हो रहा था, जैसे मानो त्रयोदशी का चन्द्रमा हो।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

॥ कवित्त ॥

सुबर वीर षावास। षिझ्झ बढ्ढी सु बंकि असि ॥
सुभै सीस गज राज। अद्ध, तेरसि कि बाल ससि ॥
मुठ्ठि चंपि द्रग पानि। नीर वानं सुद्धारह ॥
मनु मुत्तिय बारुन्न। बंदु बंधे इन बारह ॥
सा मरम देन पावरि धनि। स्वाभिसु अन्तर फुनि मिलिय ॥
जीरन युमास संदेस सदि। गल्ह एक जुग जुग चलिय ॥ १६४ ॥

शब्दार्थ—षिझ्झ = खीझकर, क्रोधित होकर। बढ्ढी = आगे बढ़ाई।

सुभं = सुशोभित हो रहा था। मुठ्ठि चंपि = मुट्ठी दबाकर। द्रग = नेत्रों को। पानि = हाथ। सुद्धारह = सुधारा। मुत्तिय = मोती, मुक्ता। बारुन्न = समुद्र। बंदु = बाँध। मरम = मर्मस्थल, अन्तःस्थल, प्राण। पावरि = पायक, सेवक। धनि = धन्य है। अंतर = हृदय। फुनि = पुनि, पुनः, फिर। जीरन = जीवन। युमास = दो महीने का। सदि = पुकारकर। गल्ह = गल (पंजाबी), बात।

व्याख्या— उस समय वीर नाई ने क्रोधित होकर अपनी टेढ़ी तलवार को आगे बढ़ाया। वह श्रेष्ठ हाथी के ऊपर त्रयोदशी के सुन्दर चन्द्रमा के समान शोभा पा रहा था। इसके पश्चात् उसने मुट्ठी बाँधकर, हाथ पर दृष्टि लगाकर नीर बाण का संधान किया। उसके वे नीर बाण ऐसे प्रतीत हुए जैसे मानो वे मुक्तामय समुद्र के बारह बाँध बाँधने जा रहे हों। स्वामी पर अपने प्राण देने वाला वह सेवक धन्य है। फिर वह हृदय से अपने स्वामी से मिला, अर्थात् उसने हृदय में अपने स्वामी का स्मरण किया। तदनन्तर उसने पुकारकर यह सन्देश दिया कि यह जीवन दो महीने का है। उसकी यह बात युगों तक चलती रहेगी।

विशेष -- प्रस्तुत कवित्त से ज्ञात होता है कि वीरता का सेहरा केवल क्षत्रियों के शिर पर ही नहीं बँधा हुआ था, वरन् उसके अतिरिक्त अन्य जातियों में भी वीर पुरुष जन्म लेते रहे हैं।

॥ कवित्त ॥

सुवर वीर कमधज्ज। राज समुह चरि झारिय ॥
मरन षूंज षावास। मरन अप्पन्नौ बिचारिय ॥
सव सु सथ्थ पुच्छयौ। तंत मंतह उच्चारिय ॥
सकल मंत रजपूत। मंत मौ देहु सुचारिय ॥
हारिये धूमं जिपै सुसब। ता उप्पर तन रष्षियै ॥
मो मंत सुनौ तो हूँ कहूँ। दुज्जन दल बल भविष्यै ॥ १६५ ॥

शब्दार्थ—सुवर = उस समय, नाई के मारे जाने के बाद। वीर कमधज्ज = कमधज वीरचन्द्र। राज समुह = राजा पृथ्वीराज के समक्ष। चरि = चलकर, जाकर। झारिय = लौहाग्नि बरसाने लगा। मरन पूंज षावास = नाई के मारे जाने से खीझकर। अप्पनौ विचारिय = सोचा, विचारा। सथ्थ = साथियों से। पुच्छयौ = पूछा। तंत मंतह = तत्वपूर्ण बात। उच्चारिय =

उच्चारित की, कही। मंत रजपूत = मन्त्रणा में निष्णात राजपूती ! । मंत = मन्त्रणा । सुचारिय = भली प्रकार सोचकर । ध्रंम = धर्म । सुसव = सब कुछ । रप्पियै = रखा जाय । दुज्जन = दुर्जन, दुष्ट पृथ्वीराज । दल बल = सैन्य शक्ति । भष्षियै = भक्षण करना चाहिए ।

प्रसंग—यहाँ पर वीरचन्द्र युद्ध के विषय में अपने साथी राजपूतों से मन्त्रणा करता है तथा उन्हें युद्ध के लिये प्रेरित करता है ।

व्याख्या—नाई के मारे जाने के पश्चात् कमधज वीरचन्द राजा पृथ्वीराज के समक्ष जाकर लोहाग्नि बरसाने लगा । नाई के मारे जाने से खीझकर उसने अपना मरण भी सोच लिया । वह अपने समस्त साथियों को सम्बोधित करता हुआ तत्त्वपूर्ण बात बोला । वह कहने लगा—हे मन्त्रणा में निष्णात राजपूतो ! भली प्रकार सोच-समझकर मुझे मन्त्रणा दो । मेरा तो विचार यह है कि यदि हम अपने धर्म को हारकर अन्य कुछ प्राप्त कर लें और उसके ऊपर अपना जीवन-निर्वाह करें, तो ऐसे जीवन-निर्वाह को धिक्कार है । अन्य समस्त पदार्थों से धर्म श्रेष्ठ है । वीरता हमारा धर्म है, उसे किसी भी प्रकार नहीं गँवाना चाहिये । यदि आप लोग मेरी मन्त्रणा सुनना चाहते हैं तो मैं कहता हूँ कि दुष्ट पृथ्वीराज की सेना का विनाश किया जाना चाहिए ।

॥ गाथा ॥

अस्तमितं वर भानु । पाया नौ परम संतोषं
जानिज्जै जस वंधुअं । नव चंदनं तिलकयौ दीयं ॥ १६६ ॥

शब्दार्थ—अस्तमितं = अस्त होने पर । पायानौ = पयान, प्रयाण, लौटना । वंधुअं = विधु, चन्द्रमा या वधू । नव = नवेली ।

व्याख्या—सूर्य के अस्त हो जाने पर दोनों सेनायें विश्राम के लिये लौट पड़ीं । उस समय सेना ने परम सन्तोष की अनुभूति की । क्यों न करते, दिन भर युद्ध करते-करते सुक्लान्त हो चुके थे । थका हुआ आदमी विश्राम चाहता ही है । उस समय चन्द्रमा युक्त रजनी ऐसी जाग पड़ी, जैसे मानो किसी नव-विवाहिता वधू ने चन्दन का तिलक लगाया हो ।

विशेष—'वंधुअं' में श्लेष अलंकार तथा छन्द के नीचे की पंक्ति में

उत्प्रेक्षा अलंकार है।

॥ चंद्रायना ॥

दुरि निसान गत भान भइग वर।
सिंधु संपनौ जाई तिमिर चढै गुर॥
कुमुद विमुद अंकूर सुरातन धरियं।
मानौ तम को तेंज सु तत्तउ धरियं॥१६७॥

शब्दार्थ—दुरि निसान गत भान=जब सूर्य का चिन्ह भी समाप्त हो गया। सिंधु=पश्चिम सागर। संपतौ=प्राप्त करके। तिमिर=अन्धकार। गुर=घना। विमुद=विशेष मोद से, प्रसन्नतापूर्वक। अंकूर=अंकुरित होने लगे, विकसित होने लगे। सुरातन घरियं=रात्रि की सुन्दर घड़ियाँ। तत्तउ धरियं=उसके अर्थात् कुमुदों (के तेज) ने दबा लिया हो।

प्रसंग=सूर्य अस्त हो जाता है, रात्रि आ जाती है, कुमुद विकसित हो जाते हैं।

व्याख्या—जब सूर्य का चिन्ह भी समाप्त हो गया और जब सूर्य पश्चिम सागर को प्राप्त हो गया, तब अन्धकार छाने लगा। रात्रि की सुहावनी घड़ियों में कुमुद प्रसन्नतापूर्वक खिलने लगे। सरोवरों में विकसित कुमुद-पुष्पों से एक प्रकाश-सा छा गया। उस प्रकाशाधिक्य को देखकर कवि उत्प्रेक्षा कर रहा है कि जैसे मानो अन्धकार के तेज (भीषण अन्धकारिता) को कुमुदों के तेज ने दबा लिया हो।

॥ मुरिल्ल ॥

वर भान संपतो थांन गुरं। सरसीरुह उद्दित मुदित वरं॥
वर वीर कमोदनि की सुगति। भए रिसिराज उदोतपती॥१६८॥

शब्दार्थ—संपतौ=प्राप्त होने पर। सरसीरुह=कमल। उति=उदित होते हैं, विकसित होते हैं। मुदित वरं=अति प्रसन्न होकर। सु गति=वही दशा। रिसिराज=चन्द्र। उदोतपती=उदित।

व्याख्या—जिस प्रकार अपने गुरु सूर्य के प्राप्त होने पर अर्थात् सूर्योदय होने पर कमल प्रसन्नतापूर्वक विकसित होते हैं, ठीक वही दशा चन्द्रमा के उदित होने पर कुमुदों की भी हुई, अर्थात् चन्द्रोदय होने पर कुमद-पुष्प प्रभूत मात्रा में विकसित होने लगे।

॥ दूहा ॥

निसि गत बंछे भान बर। भवर चक्कि अरु सूर।
मंतह मत्त पयान गति। गर भारथ्थ अंकूर ॥१६९॥

शब्दार्थ—निसी गत = रात्रि की समाप्ति। वंछे = चाहते हैं। भान = भानु, सूर्योदय। भंवर = भ्रमर। चक्कि = चक्रवाक। सूर = वीर। मंतह मत्ता = मतवाली मन्त्रणा, उन्मत्ततायुक्त मन्त्रणा। पयान गति = लौट जाने की दशा में भी। 'गर' के स्थान पर 'वर' पाठ होना चाहिये। भारथ्थ अंकूर = युद्ध का अंकुर, युद्धेच्छा।

व्याख्या—रात्रि की समाप्ति एवं सूर्योदय भ्रमर, चक्रवाक एवं वीर ये तीनों ही चाहते हैं। रात्रि के आगमन पर युद्ध से लौट जाने की दशा में भी वीरों में उन्मत्ततायुक्त मन्त्रणा होती रही तथा उनके हृदयों में युद्धेच्छा ही बनी हुई थी।

॥ कवित्त ॥

कुमुद उघरि मूंदिय। सु वंधि सतपत्र प्रकारय ॥
चकिय चक्य विच्छुरहि। चक्कि शशिवृत्त निहारय ॥
जुवती जन चढ़ि काम। जाहि कोतर तर पंषी ॥
नद नित्त हंस हंसिह मिलै। बिमल चन्द उग्यौ सुनभ ॥
सामंत सूर नृपरषिचा कै। करहि वीर वीश्राम सभ ॥१७०॥

शब्दार्थ—उघरि = खिल गये, बिकसित हो गये। मूदिय = बन्द कर लिये। सतपत्र = कमल। प्रकारय = प्राकार में, चहारदीवारी में। चकिय = चक्रवाकी। चक्क = चक्रवाकी। विच्छुरहि = विछुड़ने लगे। चक्कि = चकित होकर। जुवती जन = युवती स्त्रियों के पति। चढ़ि काँम = काम-वासना चढ़ी, काम-वासना जागृत हुई। जाँहि = जाने लगे। कोतर = कोटर। पंषी = पक्षी। अवृत = लगातार। वृत्त सुंदरिय = सुन्दरियों का समूह। वढ्ढिथ = बढ़ गया। वर अंषी = सुन्दर नेत्रों में। नव नित्त = नित्यप्रति नवीन रहने वाले। हंसि हंसिह = हंस-हँसकर। सुनभ = आकाश में। नृप रष्षि कै = राजा की रक्षा का प्रबन्ध करके। वीश्राम = विश्राम। सभ = सब।

प्रसंग—रात्रि के समय नैसर्गिक रूप से घटने वाली घटनाओं का वर्णन तथा सामान्तों एवं वीरों द्वारा रात्रि के समय पृथ्वीराज की रक्षा का वर्णन है।

व्याख्या—रात्रि के आगमन पर कुमुद विकसित होने लगे। कमलों ने अपनी चहारदीवारी के अन्दर भ्रमरों को बांधकर बन्द कर लिया। चक्रवाकी तथा चक्रवाक बिछुड़ने लगे। कुमारी शशिवृता चकित होकर पृथ्वीराज को देख रही थी। युवतियों के पतियों में काम-वासना जाग्रत हो गयी। पक्षी अपने-अपने कोटरों को जाने लगे। सुन्दरी-समूह के सुन्दर नेत्रों में लगातार काम की वृद्धि होने लगी। नित नूतन रहने वाले प्रेमी-युगल हँस-हँसकर मिलने लगे। आकाश में स्वच्छ चन्द्रमा उदित हो गया। सभी सामन्त तथा वीर शशिवृता सहित पृथ्वीराज की रक्षा का सुप्रबन्ध करके विश्राम करने लगे।

विशेष—यद्यपि कुछ आचार्यों ने स्वभावोक्ति अलंकार की बड़ी कटु आलोचना की है, यहाँ तक कि वे इसे अलंकार तक मानने को प्रस्तुत नहीं। वे इसे किसी बात का साधारण वर्णनमात्र मानते हैं, किन्तु कवि चन्द ने यहाँ पर इसी स्वभावोक्ति अलंकार का बड़ी सावधानी के साथ अति सुन्दर प्रयोग किया है।

॥ अरिल्ल ॥

तत्त सार प्रति प्रत्तिप्रमानं। जाहु राज दिल्ली चहुआँन॥
गुन वढ्ढै हम वढ्ढै सस्त्रं। दुष्प मानि सुनि सुनिय विरत्तं॥१७१॥

शब्दार्थ—तत्त=तत्त्वपूर्ण। सार=सारपूर्ण। प्रत्तिप्रमानं=प्रामाणिक। गुन वढ्ढे=गुणों में बढ़े हुए। वढ्ढे शस्त्रं=सास्त्रों में बढ़े हुए। दुष्ष=दुःख। विरत्तं=विरक्त भाव से।

प्रसंग—पृथ्वीराज के वीर सामन्त पृथ्वीराज से दिल्ली चले जाने का आग्रह करते हैं। युद्ध वे स्वयं करना चाहते हैं। यह बात सुनकर पृथ्वीराज को दुःख होता है।

व्याख्या—पृथ्वीराज के वीर सामन्त पृथ्वीराज से अनुरोध करते हुए कहने लगे—हे चौहानवंशी राजन! हम आपसे एक तत्त्वपूर्ण, सारपूर्ण तथा प्रामाणिक बात कहते हैं आप शशिवृता सहित दिल्ली चले

जाइये । हम गुणों तथा शस्त्र दोनों में बढ़े हुए हैं, अतः शत्रु का डटकर सामना करेंगे । राजा को यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ और वह विरक्त भाव से उनकी बातें सुनता रहा । पृथ्वीराज जैसे वीर राजा को सामन्तों की ऐसी बात सुनकर दुःख होना ही चाहिये था । वह केवल एक राजा ही नहीं वरन् एक कुशल और वीर सेनापति था । उसने स्वयं युद्ध करने का व्रत ले रखा था । दूसरे वह यह नहीं चाहता था कि वह दिल्ली पहुँचकर शशिवृता के साथ आनन्द उड़ाये और उसके प्रिय सामन्त अपनी मृत्यु से खेलें ।

॥ कवित्त ॥

दुष्ष मानि सो रत्त । सुनै सामंत सूर बर ॥
चन्द उडूगन काम । सर्‌यौ कहु दिष्पि सूर नर ॥
भान काम नन सरै । अरुन जो होइ तेज वर ॥
काम राम नन सरै । हनू उद्योत लंकछर ॥
नन सरै काम मंगल सुविधि । जो मंगल आक्रत्त तप ॥
सामन्त सूर इम उच्चरै । कढ्ढि मोहि झुझ्झहुति अप ॥ १७२ ॥

शब्दार्थ—रत्त = रात, रात्रि । उडूगन = उडुगन, तारागण । सर्‌यौ = पूरा हुआ, सधा । दिष्पि = देखकर । सूर नर = ऐ वीर मनुष्यो, ऐ वीर सामन्तो ! भान = सूर्य । नन = नहीं । सरै = सरता, पूरा होता, बनता । हनू = हनुमान । लंकछर = लंका पर छलांग लगाने वाले । सुविधि = उसी प्रकार । मंगल आक्रत्त = मंगलाक्रत्त, अरुण वर्ण । इम = इस प्रकार । उच्चरै = कहते हो । कढ्ढि मोहि = मुझे निकाल कर, मुझे विदा करके । झुझ्झहुति = जूझोगे, युद्ध करोगे ।

प्रसंग—पृथ्वीराज अपने वीर सामन्तों के अनुरोध पर अनेकों दृष्टान्त देकर उन्हें यह बताना चाहता है कि वे लोग उसकी अनुपस्थिति में युद्ध नहीं कर सकेंगे ।

व्याख्या—उस रात्री में पृथ्वीराज ने अपने श्रेष्ठ वीर सामन्तों की बात को बड़े दुःखपूर्वक सुना फिर कहने लगा—ऐ वीर सामन्तो ! क्या कहीं चन्द्रमा का कार्य तारागणों से पूरा होते देखा गया है ? अर्थात् नहीं, क्योंकि यदि सभी तारे मिलकर भी उतना प्रकाश करना चाहें जितना चन्द्रमा करता है, तो नहीं कर सकते । पुनः दूसरा दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए पृथ्वी-

राज पूछता है—क्या सूर्य का काम अत्यधिक तीव्र अरुणिमा भी कर सकती है ? उत्तर है नहीं। प्रातःकालीन अरुणिमा में कितना ही प्रकाश क्यों न हो, तथापि वह सूर्य जितना प्रकाश प्रदान करने में असमर्थ है तीसरा दृष्टान्त देता हुआ पृथ्वीराज कहता है—क्या लंका पर छलाँग लगाने वाले उद्योगी हनुमान से राम का कार्य पूरा हुआ है ? उत्तर आता है नहीं। पूर्ण प्रयास करने पर भी हनुमान वह कार्य सम्पन्न नहीं कर सकते थे, जो राम को सम्पन्न करना था। चतुर्थ दृष्टान्त को प्रस्तुत करते हुए पृथ्वीराज अपने वीर सामन्तों से प्रश्न करता है—क्या मंगल नामक ग्रह का काम मंगलाकृत अरुणिमा से बन पड़ा है ? उत्तर नकारात्मक ही आता है। पुनः पृथ्वीराज कहता है—हे वीर सामन्तो ! इसी प्रकार (जिस-प्रकार ऊपर दृष्टान्त दिये गये हैं) तुम्हारा कथन है। क्या तुम लोग मुझे विदा करके स्वयं युद्ध कर सकोगे ?

॥ दूहा ॥

मुहि कढ्ढिरु तुम रहौ बर। जियत जाँहि उन थान ॥
ऐसी रीति अरीत बर। पढ्ढी नह चहुआँन ॥ १७३ ॥

शब्दार्थ—मुहि = मुझे। कढ्ढिरु = विदा करके। उन थान = उस स्थान पर, दिल्ली। पढ्ढी = पढ़ी है। नह = नहीं।

प्रसंग—अपने सामन्तों के आग्रह से पृथ्वीराज के आत्माभिमान को ठेस लगती है। वह यह नहीं चाहता कि वह प्राण बचाकर दिल्ली भाग जाय और उसके वीर सामन्त युद्ध करते रहें।

व्याख्या—पृथ्वीराज अपने सामन्तों से कहने लगा—तुम मुझे दिल्ली को विदा करके स्वयं यहाँ रहकर युद्ध करना चाहते हो, किन्तु ऐसी कुरीति का पाठ चौहानवंशी पृथ्वीराज ने नहीं पढ़ा है।

॥ गाथा ॥

अंकुर बीर सुमट्ट। अघटं घट्टाइ क्रोधयौ कलहं ॥
हय मुक्या चलि वंधी। निढुर सथ्थव सठयो वीर ॥

शब्दार्थ—अंकुर बीर = वीर रस का अंकुर अंकुरित हो गया। सुभट्ट = वीरों में। अघटं घटाइ = अघटित घटना घटी। क्रोधयो = क्रोधपूर्ण। कलहं = युद्ध। हय मुक्या = घोड़ा बढ़ा दिया। चाले बंधी = चाल बांधी, क्रमबद्ध किया। निढुर = निड्डुरराय। सथ्थव = साथ में। सठयो = साठ।

प्रसंग—पृथ्वीराज तथा उसके सामन्तों में पृथ्वीराज के दिल्ली चले जाने के विषय पर वाद-विवाद हो ही रहा था कि सहसा युद्ध प्रारम्भ हो गया।

व्याख्या—उसी समय वीरों में वीर रस का अंकुर अंकुरित हो गया। एक अघटित घटना घटी और क्रोधपूर्ण युद्ध प्रारम्भ हो गया। निड्डुरराय ने अपने घोड़े को आगे वढ़ाया और सेना को क्रमवद्ध किया। निड्डुरराय के साठ सामन्त और थे।

॥ दूहा ॥

वीर वीर वीराधि वर । कढै लौह तजि छोह ॥
सर धीर सामंत गति । नहिं माया नहिं मोह ॥ १७५ ॥

शब्दार्थ—वीर = वीर। वीर वीराधि वर = वीरों में श्रेष्ठ वीर वीरचन्द। कढै लौह = तलवारें निकाल लीं, शस्त्र उठाये। तजि छोह = मोह का परित्याग करके। 'सर' के स्थान पर 'सूर' पाठ होना चाहिए।

प्रसंग—पृथ्वीराज के सामन्तों का आक्रमण देखकर वीरचन्द के वीर भी युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं।

व्याख्या—वीरों में श्रेष्ठ वीर वीरचन्द के वीरों ने भी प्राणों के मोह का परित्याग करके अपनी-अपनी तलवारें खींच लीं। वीर सामन्तों की गति तो वड़ी धैर्यशालिनी होती है। वे सांसारिक माया एवं मोह में अवलिप्त नहीं होते।

विशेष—दूहे के प्रथम दो शब्दों 'वीर', 'वीर' में यमक अलंकार है। पहले 'वीर' का अर्थ 'वीर' तथा दूसरे 'वीर' का अर्थ वीरचन्द है। 'दूहे' की दूसरी पंक्ति निदर्शना अलंकार है।

॥ रसावाल ॥

जिते सूर पत्ती । लगे लोह तत्ती ॥
नचे सूर छत्ती । उठे काल तत्ती ॥ १७६ ॥

जुटे जोध पत्ती । उडी रेन गत्ती ॥
सहा बैन तत्ती । कला कोटि कत्ती ॥ १७७ ॥

ग्रवै ग्राव गत्ती । सुरं पंच छत्ती ॥
मचे कूह मत्ती । पचे रोस रत्ती ॥ १७८ ॥

करै घाव कत्ती । इसे सूर चित्ती ॥
शिए फल्ल सत्ती । घुमै घाइ घत्ती ॥ १७९ ॥

भजे भीम भत्ती । हनूमान जत्ती ॥
अनाभूत अत्ती । दिषै दारू दत्ती ॥ १८० ॥

रुधिं धार रुक्कं । भभक्कै भभक्कं ॥
धका धीग धक्कं । बकै मार बक्कं ॥ १८१ ॥

इसैं चित्त अक्कं । छुटै मत छक्कं ॥
डकारंत डक्कं । त्रिलोकंत हक्कं ॥ १८२ ॥

मनो मोह थक्कं । हको हक्क बक्कं ॥ १८३ ॥

शब्दार्थ—जिते = जिस ओर । सूर = वीर । पत्ती = पंक्ति । तत्ती = गर्म, भीषण । छत्ती = छाती, हृदय । जोध = योद्धा । रेन = रेणु, धूलि । गत्ती = बहुत अधिक मात्रा में । सहा वेन = सही नहीं जाती थी । कोटि = करोड़ । ग्रवै ग्राव = प्रत्येक ग्रीवा से, प्रत्येक कण्ठ से । पंच = पञ्चम स्वर । छत्ती = छत्तीसों राग । मत्ती = मस्ती । रोस = रोष, क्रोध । कत्ती = कितने, अनेक, बहुत । सूर चित्ती = वीर कहते हैं । शिव = भगवान् शंकर । सत्ती = सती, पार्वती । घाइ = घायल । घत्ती = घात में । जत्ती = यती । अनाभूत अत्ती = बहुत अधिक संख्या में वीर प्राणविहीन हो गए थे । दारु = लकड़ी, दण्ड । दत्ती = दत्त (दत्तात्रेय) मत के मानने वाले । रुधिं = रुधिर की, रक्त की । भभक्कै भभक्के = भभक-भभककर । धका धीग धक्कं = धक्का-मुक्की । बकै मार बक्कं = मार-मार की बकवास हो रही थी । अक्कं = अक्र, स्थिर, दृढ़ । मत्त = मतवाले । छक्कं = छक्के । थक्कं = थक गया हो, समाप्त हो गया हो । हको हक्का = हुंकार पर हुंकार । बक्कं = बक रहे थे, कह रहे थे ।

प्रसंग—कवि ने दोनों सेनाओं के बीच हो रहे युद्ध का बड़ा ही विशद वर्णन प्रस्तुत किया है ।

व्याख्या—जिस ओर वीरों की पंक्ति बढ़ जाती थीय, उसी ओर भकर लोहाग्नि बरसने लगती थी । आनन्द के कारण वीरों के हृदय नृत्य कर रहे थे । उस समय भयंकर मृत्यु चारों ओर छायी हुई थी । योद्धाओं की पंक्तियाँ आमने-सामने डटी हुई थीं । सेनाओं के पदाघात से धूल प्रभूत मात्रा में उड़ रही थी । भीषण मार सही नहीं जा रही थी । वीर करोड़ों कलाओं से युद्ध कर रहे थे । प्रत्येक कण्ठ से पंचम सुर में छत्तीसों राग अलापे जा रहे थे । उस समय युद्धस्थल में कूह और मस्ती फैली हुई थी । वीरों में क्रोध-

की मात्रा चरम सीमा को पहुंच चली थी । जो बढ़-बढ़कर विपक्षी वीरों को अनेकों घाव देवे, उसे वीर कहते हैं । भगवान शंकर पार्वती को लेकर घायलों (मृतकों) की घात में घूम रहे थे। (उन्हें अपनी माला गूँथने की पड़ी होगी) । उस समय भयंकर युद्ध को देखकर मतवाले भीम तथा यती हनुमान भी भाग गये । वीर बहुत अधिक संख्या में प्राणविहीन हो गये थे । जो कायर थे, वे दण्ड लिए हुए दत्ती (दत्तात्रेय के अनुयायी) के रूप में देखे गये, अर्थात् उन्होंने अपना साधु-वेष बना लिया था, जिससे उन्हें कोई मारे नहीं । रुण्डों में से रक्त की धारा रुक-रुककर, भभक-भभककर निकल रही थी । सर्वत्र धक्का-मुक्की मची हुई थी । सभी वीर मार-मार की बकवास लगाये हुए थे । जिसका चित्त ऐसे समय में स्थिर रह सके, वही वास्तविक वीर है । बड़े-बड़े मतवालों के भी छक्के छूट रहे थे। युद्ध करते हुए वीरों का आस्फालन तथा उनकी हुंकार तीनों लोकों तक पहुँच रही थी। वीरों के मन का मोह थकितहो गया था, अर्थात् उन्होंने मोह का परित्याग कर दिया था तथा वे हुंकार पर हुंकार कर रहे थे ।

विशेष—युद्ध के ऐसे सजीव वर्णन की आशा चन्द वरदाई जैसे कवियों से ही की जा सकती है । कितना सजीव चित्र है युद्ध का ! पाठक को ऐसा प्रतित होता है कि आज से लगभग साढ़े सात सौ वर्ष पूर्व हुआ युद्ध आज उसके समक्ष फिर हो रहा है। इस प्रकार के ओजपूर्ण वर्णन में अनुप्रासादि अलंकारों का आ जाना स्वाभाविक ही है ।

॥ कवित्त ॥

हको हक्कि बंजिय प्रकार । सार वज्जैं सु वीर वर ॥
सु बुधि बुद्ध आवुद्ध । भत्ता लग्गै असि बर झर ॥
इकत रुद्ध आरुद्ध । नद्द नारद अधिकारिय ॥
रंभ सिभ आरम्भ । सिद्ध बुद्धं दे तारिय ॥
धनि धन्नि सूर दिन धनित बल । छल छत्रिय अंकूर रजि ॥
कलहंत काल कालह विषम । सुवह वीर बीरत्त रजि ॥ १८४ ॥

शब्दार्थ—हको हक्कि = हाँक पर हाँक, हुंकार पर हुंकार । बंजिय = वज्जिय; वज्र के (तुल्य) । सार = लोहा । वज्जैं = बजाने लगे । बुधि = बुद्धियुक्त, बुद्धिमान । बुद्धि आबुद्ध = बुद्धि-अबुद्धि, सुधबुध भूलकर । मत =

मतवाले। असि = तलवार। झर = झड़ी। इकत = एक की। रुद्ध = रौंदे जाने पर। आरुद्ध = अरुद्ध घेरे में नहीं रहता। नद्द = नाद। रंभ = रम्भा। सिंभ = शम्भु, भगवान् शंकर। आरंभ आना प्रारम्भ हो गया। सिद्ध बुद्धं = बुद्धिमान सिद्ध। धनि धन्नि = धन्य है! धन्य है!। धनित = धन्य। छत्रिय = क्षत्रियत्व। अंकूर = अंकुरित कर दिया। कलहंत काल = युद्ध करते समय। कालह विषम = भयंकर काल के समान। सुबर उस समय। बीरत्ता रजि = वीर रस सुशोभित हो रहा था।

प्रसंग—तुमुल युद्ध का ही वर्णन चल रहा है।

व्याख्या—हुंकार पर हुंकार करते हुए वे श्रेष्ठ वज्रतुल्य लोहा बरसाने लगे। विवेकयुक्त होते हुए भी मतवाले उन वीरों ने अपनी सुधबुध भुलाकर खड्ग-प्रहार की झड़ी लगा रखी थी। जिस समय एक को रौंदा जाता था तो दूसरा गोल से बाहर हो जाता था। नारद संगीत के अधिकारी दक्ष बनकर अपनी वीणा को वजाये जा रहे थे। रम्भा तथा भगवान शंकर का युद्ध-स्थल में आना प्रारम्भ हो गया। बुद्धिमान सिद्ध ताली बजा-बजाकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर रहे थे। उन वीरों को धन्य है तथा धन्य है उस दिन को, जिस दिन उन वीरों ने अपना बल-प्रदर्शन कर क्षत्रियत्व को अंकुर उदित कर दिया था। युद्ध के समय वे वीर भयंकर काल-सदृश दिखाई पड़ रहे थे। उस समय उन वीरों में वीर रस छाया हुआ था।

विशेष—'कलहंत काल कालह' तथा 'बीर बीरत्ता' में अनुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है।

॥ दूहा ॥

स्वामि काज लग्गे सुमति। षंड षंड धर धार॥
हार हार मंडे हियै। गुथ्थि हार हर हार॥ १८५॥

शब्दार्थ—सुमति = बुद्धिमान। षंड षंड = खण्ड-खण्ड, टुकड़े-टुकड़े। धर = धड़, रुण्ड। धार = तलवार की धार से। हार हार = हार ही हार, मालायें ही मालायें। मंडे = सुशोभित कर लिये थे। हियै = हृदय पर। गुथ्थि हार = हारों को गूँथते-गूँथते। हर हार = शिव हार गये, शिव थक गये।

प्रसंग—अभी तक कवि युद्धभूमि में ही विचरण कर रहा है।

व्याख्या—वे बुद्धिमान सामन्त अपनी तलवार की धार से वीरों के रुण्डों के टुकड़े-टुकड़े करते हुए अपने स्वामी के कार्य में लगे हुए थे। उन्होंने

इतनी मार-काट मचायी कि भगवान शंकर ने अपने वक्षःस्थल पर हार ही हार सुशोभित कर रखे थे तथा मुण्डमालाओं को गूंथते-गूंथते थक गये थे।

विशेष—'गुथ्थि हार हर हार' में 'हार' और हार में यमक अलंकार का प्रयोग बड़ी निपुणतापूर्वक किया गया है। प्रथम 'हार का अर्थ तो 'माला' है तथा दूसरे 'हार' का अर्थ 'हारना' या 'थक जाना' है।

॥ कवित्त ॥

घंटिय पंच दिन घट्यो। उमरि आरव्व पुंज षिरि ॥
एक दिना दोउ सेन। मोह छंड्यौ क्रम निक्करि ॥
बान गंग पत्तयौ। वीर ग्यारसि दिन सोमं ॥
सूर धीर सामंत। सूर उड्डै इहै रन रोमं ॥
क्रत काम काज सांई विभ्रम। दल दंतिय पंतिय गमै ॥
सामंत्त सूर सांई विभ्रम। रोम रोम राजी भ्रमै ॥ १८६ ॥

शब्दार्थ—घटिय = घड़ी। घट्यो = घटा, कम हुआ, व्यतीत गया। उमरि = उमड़कर, उत्साहित होकर। आरव्व पुंज = अरबी घोड़ों का समूह। षिरि = खड़ा किया, आगे बढ़ाया। एक दिना = उस दिन। मोह छंड्यौ = प्राणों के मोह का परित्याग कर दिया। क्रम निक्करि = क्रम से निकलकर व्यूह से निकलकर, व्यूह भंग करके। बान गंग = वाण गंगा। पत्तयौ = प्राप्त किया, पहुँचा। बीर = वीर पृथ्वीराज। ग्यारसि = एकादशी। दिन सोमं = सोमवार को। उड्डे = उड़ा दिये, छाँट दिये, काट दिये। रन = युद्ध-स्थल। रोमं = रोम-रोम को, प्रत्येक अवयव को। क्रत काम = कृतकार्य, सफल कार्य। काज सांई = स्वामी के कार्य के लिए। विभ्रम = भ्रान्ति उत्पन्न कर दी। दंतिय = हाथी। पंतिय = पंक्ति। गमै = खो दी, नष्ट कर दी। रोम रोम = प्रत्येक रोम में, शरीर के प्रत्येक अवयव में। राजी = रजोगुण। भ्रमै = घूम रहा था, भासित हो रहा था।

प्रसंग—पृथ्वीराज के समान्तों की वीरता का वर्णन है।

व्याख्या—पाँच घड़ी दिन व्यतीत हो जाने पर वीरों ने उत्साहित होकर अरबी घोड़ों के समूह को आगे बढ़ाया। उस दिन दोनों सेनाओं के वीर प्राणों का मोह छोड़कर व्यूह को तोड़कर युद्धार्थ आगे बढ़ गये। एकादशी सोमवार को वीर पृथ्वीराज बाणगंगा के तट पर पहुँच गया। धैर्यशाली वीर सामन्तों ने रणक्षेत्र में वीरों के प्रत्येक अवयव को छाँट दिया था।

अपने कृतकार्य स्वामी (क्योंकि पृथ्वीराज शशिवृता का अपहरण कर ही चुका था, अतः उसका कार्य पूरा हो चुका था) पृथ्वीराज के कार्य के लिए सामन्तों ने गजसेना की पंक्तियों को समाप्त करते हुए भ्रम उत्पन्न कर दिया। उस समय वीर सामन्तों तथा उनके स्वामी पृथ्वीराज के रोम-रोम में रजो गुण भासित हो रहा था, जिसके कारण विपक्षी योद्धाओं में भ्रम फैला हुआ था। राजा तथा सामन्तों में तो वैसे हम रजोगुण की मात्रा प्रधान होती है, किन्तु कवि ने उक्ति में कुछ विशेष चमत्कार ही उत्पन्न कर दिया है।

॥ दूहा ॥

रोम राज राजी भ्रमहि। थोर थनी ढुंढि बाल॥
उतकंठा उतकंठ की। तैं पुज्जी प्रतिपाल॥ १८७॥

शब्दार्थ—रोम राज = राजा पृथ्वीराज के रोम-रोम में, राजा के प्रत्येक अवयव में। राजी = रजोगुण। भ्रमहि = दौड़ रहा था, भासित हो रहा था। थोर थनी = छोटे-छोटे कुचों वाली (शशिवृता)। ढुंढि = ढूंढ रही थी, देख रही थी। बाल = बाला, शशिवृता। उतकंठा = अभिलाषा। उतकंठ = उत्कण्ठायुक्त, अभिलाषा रखने वाली। पुज्जी = पूर्ण कर दी। प्रतिपाल = प्रीतिपालक, प्रेम का पालन करने वाला।

प्रसंग—युद्ध करते हुए पृथ्वीराज की ओर शशिवृता द्वारा सतृष्ण नेत्रों से देखे जाने का कवि ने सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है।

व्याख्या—उस समय युद्ध करते हुए पृथ्वीराज के शरीर के प्रत्येक अवयव से रजोगुण टपक रहा था। छोटे-छोटे कुचों वाली बाला शशिवृता ने उस समय राजा की ओर बड़े सष्तृण नेत्रों से देखा। प्रेमपालक राजा पृथ्वीराज ने अभिलाषायुक्त उस बाला की अभिलाषा पूर्ण कर दी। आशय यह है कि शशिवृता पृथ्वीराज को पाकर यह युद्ध नहीं देखना चाहती थी। मुख से तो वह अपने प्रियतम से कुछ कह नहीं सकती थी, अतः उसने अपने नेत्रों से पृथ्वीराज की ओर देखकर अपना हृदयस्थित भाव अपने प्रिय पर व्यक्त कर दिया। पृथ्वीराज ने उसकी अभिलाषा को समझ लिया और परिणामस्वरूप युद्धस्थल छोड़ने का निश्चय किया।

विशेष—वीर तथा शृंगार जैसे दो विरोधी रसों की एकत्र स्थापना करना चन्द जैसे कुशल कलाकार की लेखनी ही कर सकती है। अब तक वीर रस की निष्पत्ति होती चली आ रही थी। कवि ने एकदम उसे मोड़ देकर शृंगार रस की स्थापना कर दी।

॥ गाथा ॥

आरंभ प्रारंभौ। उत्कंठां किनयौ वृतयं ॥
साधा धरी सुधरयं। नन छुट्टै तीनयौ पनयं ॥१८८॥

शब्दार्थ—आरंभ प्रारम्भौ=युद्धारम्भ (से पूर्व)। उतकंठा=अभिलाषा। किरयौ=की थी। वृतयं=व्रतधारिणी (शशिवृता) ने। साधा=साध दी, पूर्ण कर दी। धरी सु धरयं=धारण करने योग्य, उसको धारण कर लिया, अर्धाङ्ग में स्थान दे दिया। तीनयौ=उनका। पनयं=प्रण, अभिलाषा।

प्रसंग—पृथ्वीराज द्वारा शशिवृता की इच्छा पूर्ण कर उसे अर्धाङ्ग में स्थान देने का वर्णन है।

व्याख्या—युद्धारम्भ से पूर्व उस व्रतधारिणी ने पृथ्वीराज के अर्धांग में बैठने की अभिलाषा की थी। पृथ्वीराज ने यह सोचकर कि कहीं उसकी अभिलाषा टूट न जाय, उसे अपने अर्धाङ्ग में स्थान देकर उसकी इच्छा पूर्ण कर दी।

विशेष—प्रेमी को अपनी प्रेयसी की इच्छाओं का कितना ध्याब रहता है इसका उपर्युक्त वर्णन सुन्दर निदर्शन है। प्रेमी यह कभी नहीं चाहता कि उसकी प्रेयसी की इच्छाओं को किस प्रकार ठेस पहुँचे। जो कार्य वीर सामन्तों का स्वामिभक्तिपूर्ण आग्रह भी न कर सका, वही कार्य प्रेयसी की एक चितवन ने कर दिखाया। द्वन्द्व का चित्रण

॥ दूहा ॥

नह चल्लै पृथिराज रिन। लज्ज लपट्टिय पाइ ॥
त्रिय जोरै कर हथ्थ दो। चलि संभरिवै राइ ॥१८९॥

शब्दार्थ—नह=नहीं। चल्लै=हटा। रिन=रणक्षेत्र, युद्धभूमि। लज्ज=लज्जा, क्षत्रियत्व की लज्जा। लपट्टिय=लपेटे हुए थी, जकड़े हुए थी। त्रिय=स्त्री, पत्नी, शशिवृता। हथ्थ=हाथ। सभरिवै राइ=संभरी नरेश।

प्रसंग—पृथ्वीराज की उस समय की मनोदशा का सुन्दर चित्रण किया गया है।

व्याख्या—एक ओर तो क्षत्रियत्व की लज्जा ने पृथ्वीराज के पैरों को जकड़ लिया था, अतः वह युद्धभूमि से नहीं हट पा रहा था। दूसरी ओर शशिवृता दोनों हाथ जोड़ कर प्रार्थना कर रही थी—हे संभरी नरेश! आप यहाँ से चलिये।

विशेष—प्रतिज्ञा एवं प्रेम के द्वन्द्व का कैसा मनोहारी चित्र है।

लज्जा की दशा ॥ दूहा ॥

तं वै एकह पन रहै। रंग कसुंभ प्रमान ॥
हों नन छडों पास तुअ। तीनों पनह समान ॥१९०॥

शब्दार्थ—वै = वय, अवस्था, युवावस्था। एकह पन = एक ही रंग में। कसुंभ = कुसुंभ का पुष्प। प्रमान = तरह, भाँति। हों = मैं। नन = नहीं। छंडों = छोड़ती हूँ। पास तुअ = तेरे समीप रहते हुए भी। तीनों पनह = तीन बातें (दान, खंग और स्वरूप)।

प्रसंग—अब लज्जा तथा वय (शशिवृता युवती थी, अतः वह वय की प्रतीक है) में वाद-विवाद प्रारम्भ होता है।

व्याख्या—लज्जा वय से कहती है—हे वय! तुम भी कुसुंभ के पुष्प के समान सदैव एक सी बनी रहती है, किन्तु मैं तेरे पास रहती हुई भी तीन बातों (दान, खंग, स्वरूप) को नहीं छोड़ती। मैं इन तीनों को ही एक ही प्रकार से अपनाती हूँ।

विशेष—लज्जा तथा वय में संवाद की अवतारणा करके कवि ने नाटकीयता उत्पन्न कर दी है।

॥ दूहा ॥

तू लज्जी मो सथ्थ है। दान षक्ष अरु रूप ॥
मों चल्लै तीनों चलैं। संची चवै न भूप ॥१९१॥

शब्दार्थ—लज्जी = लज्जा। मो सथ्थ = मेरे साथ। मों चल्लै = मेरे चलने पर, वृद्ध होने पर। तीनों चलैं = तृष्णा के कारण उदारता, निर्बलता के कारण खड्गधारण और वृद्धत्व के कारण सौन्दर्य चलने लगते हैं। संची = सच्ची बात। जवै = कहती। भूप = राजा से।

व्याख्या—वय लज्जा को उत्तर देती है—हे लज्जे! दान खड्गधारण तथा सौन्दर्य, इन तीनों में ही तू मेरे साथ है। मेरे चलने पर अर्थात्

वृद्धत्व को प्राप्त होने पर ये तीनों भी चलने लगते हैं यह सच्ची बात तू राजा से क्यों नहीं कहती ?

विशेष—वय के उत्तर में वस्तुस्थिति की समयक् अवतारणा है ।

॥ दूहा ॥

परैं सूमर दोऊन दल। निढ्डर देष्यौ बंध ॥
कौन भुजा बल युध करैं। सुनि कमधज्ज अमुंद्ध ॥१९२॥

शब्दार्थ—सुमर = समर, युद्धभूमि । निढ्डर = निड्डुरराय । देष्यी = देखकर । बन्ध = बन्धु, भाई वीरचन्द । जुध करैं = युद्ध कर रहे हो । सुनि = सुनो । अमुंद्ध = अमूढ़, बुद्धिमान् ।

प्रसंग—पृथ्वीराज को वय की बात माननी पड़ती है। वह शशिवृता को लेकर चला जाता है। इधर पृथ्वीराज का सामन्त निड्डुरराय वीरचन्द को समझाता है कि दोनों दल के असंख्य वीर वीरगति को प्राप्त हो चुके हैं, शशिवृता को लेकर राजा पृथ्वीराज भी चले गये हैं, अतः अब रक्तपात व्यर्थ है ।

व्याख्या—निड्डुराय ने अपने भाई वीरचन्द को देखकर उससे कहा—हे बुद्धिमान् कमधज वीरचन्द ! सुनो । देखो, दोनों सेनाओं के असंख्य वीर युद्धक्षेत्र में मृत पड़े हुए हैं, अतः अब तुम किस भुजा का आश्रय लेकर युद्ध करना चाहते हो । कहने का तात्पर्य यह है कि अब युद्ध बन्द कर देना चाहिए ।

॥ दूहा ॥

वाला लै प्रथिराज गय। गहिय वग्ग. कमधज्ज ॥
रोस रीस विरसोज भय। रह वाजे अनवज्ज ॥१९३॥

शब्दार्थ—वाला = शशिवृता । गय = गया, चला गया । गहिय = पकड़ी । बग्गा = वल्गा, लगाम, रास । रोस रीस = क्रोध के आवेश (के कारण) । विरसोज = नीरसता । भय = हो गयी, छा गयी । अनवज्ज = वादन-रहित ।

प्रसंग—वीरचन्द को निड्डुरराय ने सलाह तो नेक दी, किन्तु वह मानता, तब न ! उसके ऊपर तो शशिवृता का भूत सवार था; अतः पृथ्वीराज को घेरने के लिये उसने अपना घोड़ा दौड़ा दिया।

व्याख्या—जब वीरचन्द को यह विदित हुआ कि शशिवृता को लेकर पृथ्वीराज चला गया है तो पृथ्वीराज को आगे जाकर घेरने के लिये उसने अपने घोड़े की रास उठा दी। उस समय क्रोध के आवेश के कारण सेना में नीरसता का साम्राज्य छा गया और बाजे बिना बजे ही रह गये।

विशेष—लड़ाई की तीन जड़ें हैं—जर, जमीन, जन (स्त्री)। स्त्री की मादकता ही कलह का प्रमुख कारण है, यह प्रस्तुत प्रसंग में भली प्रकार देखा जा सकता है। यदि पृथ्वीराज शशिवृता को ले गया, तो ले जाने देता। उसका पीछा करने की क्या आवश्यकता थी? किन्तु नहीं, वीरचन्द के नेत्रों में तो शशिवृता की मादक मूर्ति छायी हुई थी।

॥ कवित्त ॥

अद्ध कोस नृप अग्ग। वीर ठढ्यौ करि डढ्ढौ॥
मद समूह गजराज। छंडि पट्टे बल गढ्ढौ॥
लाज बंधि संकरिय। बीर बंध्यौ सु अष्ट कसि॥
अग्नि बौर छेंठे न। क्रन्न मंडे दिलीय दिसी॥
मनमत्थ महावत बंधि अति। मन मत्तौ उनको धरै॥
घन धाइ रुधिर छुट्टै परे। अमर पुहप पूजा करै॥ १९४॥

शब्दार्थ—अद्ध कोस=आधा काम। अग्ग=आगे से। वीर=वीरचन्द। ठढ्यौ करि=खड़ा करके, घेरकर। ठढ्ढौ=खड़ा हो गया। मद=मतवाला। छंडि=छाँट दिया, काट दिया। गढ्ढौ=गढ़ा, दृढ़। संकरिय=शृंखला, जंजीर। वीर=वीरचन्द। वंध्यौ=बाँध लिया, काबू में कर लिया। अष्ट=आक्रमण करने वाले हाथी के आठ अंग (दो दाँत, तुण्ड, सूँड, चारों पैर)। इसी प्रकार राजाओं के आठ कर्म=दुष्टों को दण्ड देना, योग्य का सम्मान, सम्यक् प्रजापालन, यज्ञादि द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना, न्यायपूर्वक धनसंग्रह, राजाओं को अधीन रखना, शत्रुओं को दबाना, मित्रों को प्रसन्न रखना। क्रन्न=कान। मंडै=लगाये थे। दलीय दिसि=दिल्ली की ओर। मनमत्थ=मनमथ, कामदेव। बंधि अति=बंधन में कर रहा था, वश में कर रहा था। मन मत्तौ=मतवाला। उनको=उस कामदेव रूपी महावत को। धरै=दबा लेता था। घन=घन, बहुत। घाइ=घाव। छुट्टै परे=छूट पड़ा, बह रहा था। अमर=देवता। पुहप=पुष्प।

प्रसंग—वीरचन्द जाकर पृथ्वीराज को घेर लेता है, किन्तु पृथ्वीराज विकराल रूप से उसकी सेना पर टूट पड़ता है।

व्याख्या—वीरचन्द आधा कोस आगे जा कर पृथ्वीराज को घेरकर खड़ा हो गया, किन्तु मतवाले पृथ्वीराज ने अपने दृढ़ पट्टे के बल पर वीरचन्द की सेना के श्रेष्ठ हाथियों के समूह को छाँटकर फेंक दिया। यद्यपि उस समय पृथ्वीराज लज्जा की शृंखलाओं से जकड़ा हुआ था; तथापि हाथी के आक्रमणकारी अष्टांग (दो दाँत, तुण्ड सूँड तथा चारों पैर) की भाँति राजाओं के अष्ट कर्म (दुष्टों को दण्ड देना, योग्य का सम्मान, प्रजा का सम्यक्, पालन, यज्ञादि से देवताओं को प्रसन्न करना, न्यायपूर्वक धनसंग्रह, अन्य राजाओं को अपने अधीन रखना, शत्रुओं को पराभूत करना तथा मित्रों को प्रसन्न रखना) का पालन करके वाले उनके कर्मों के बल पर वीरचन्द को कसकर दबा लिया। वह शत्रुओं को वीर की भाँति छाँट रहा था। उस समय उसने अपने कानों को दिल्ली की ओर नहीं लगा रखा था, अर्थात् उस समय उसे शशिवृता को लेकर दिल्ली चले जाने का ध्यान तक न आया। कामदेव-रूपी महावत मतवाले हाथी के समान युद्ध की मस्ती में मस्त उस राजा को अपने वश में कर रहा था, किन्तु उस मतवाले राजा ने उस समय उस कामदेव रूपी पीलवान को अपने वश में कर रखा था। कहने का आशय यह है कि यद्यपि शशिवृता का सुन्दर मुखड़ा उसे याद आता रहा था, किन्तु युद्ध के समय उसने अपनी उन काम-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर रखी थी। वह शत्रुओं को घने घाव दे रहा था। उन शत्रुओं के शरीरों से रक्त प्रवाहित हो रहा था। उसकी ऐसी वीरता देखकर देवता लोग उसकी पूजा कर रहे थे, अर्थात् देवता उसके ऊपर आकाश से पुष्पवृष्टि कर रहे थे।

विशेष—कवि ने पृथ्वीराज के आधार पराक्रम बड़ा ही ओजपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है।

'अष्ट' में श्लेश अलंकार तथा 'मनमत्थ महावत' में रूपक अलंकार है।

॥ कवित्त ॥

षूब राज प्रथिराज । षूब जैचंद बंध बर ॥
षूल सूर सामंत । षूब जुध जोम जंग बर ॥

पूब सेन ढंढोरि । पूब झोरी करि डारीय ।।
पूब षेत विधि गाम । बान गंगा पथ झारीय ।।
आसरे आस छंडिय नृपति । विपति संपति जानि भरस ।।
सुठिहार राज प्रथिराज की । धरै सबइ चौंडोल धर ।।१९५।।

शब्दार्थ—पूब = धन्य है । वंध = वन्धु, भाई । पंग = पंगुराज जयचन्द । ढंढोरि = ढूँढ़ लिया, परख लिया । षूब = अनेकों को । झोरी करि डारिय = झोली में डालने योग्य बना दिया । षेत = क्षेत्र, मैदान । विधि गाम = ब्रह्मगांव (ग्राम विशेष का नाम) । झारिय = (शस्त्रों की) झड़ी लगा दी । मारकाट की । आसेर = दुर्ग, दिल्ली । आस = आशा । छंडिय = छोड़ दी । नृपति = राजा पृथ्वीराज । भरय = भट्टों ने, वीरों ने । सुठिहार = सुँठालिया (मध्य प्रान्त के अन्तर्गत) धरै = उठावा । चौंण्डोल = चण्डोल, डोली ।

प्रसंग—पुनः बाण गंगा के तट पर भयंकर युद्ध होता है। विजय पृथ्वीराज की अवश्य होती है, किन्तु इस युद्ध में पृथ्वीराज तथा उसके वीर सामन्त घायल होते हैं । सुठिहार का राजा उन्हें अपने घर ले जाता है ।

व्याख्या—धन्य है ! राजा पृथ्वीराज को, जयचन्द के भाई वीरचन्द को जिन्होंने लड़कर एक-दूसरे को परख लिया और बहुत से वीरों को इतना घायल कर दिया कि झोली में उठाने योग्य हो गये । धन्य है ! ब्रह्मगांव के क्षेत्र तथा वाणगंगा को, जिनके मार्ग पर शस्त्रों की झड़ी लगा दी गयी । युद्ध इतनी भयंकरता से हुआ कि पृथ्वीराज को दिल्ली पहुँचने की आशा न रही । इतना सब होने पर भी वीरों ने उस विपत्ति को सम्पति माना । जब युद्ध समाप्त हो गया तो सुठिहार के राजा पृथ्वीराज को तथा उसके घायल सामन्तों को डाली में रखकर उपचारार्थ घर ले गया ।

टिप्पणी—'डारीय के स्थान पर डारिय' पाठ होना चाहिए। 'डारीय' पाठ होने से छन्द में एक मात्रा की वृद्धि हो जाती है ।

।। दूहा ।।

चाहुआन चतुरंग जिति । निगम बोध रहि राज ।।
बर शशिवृत जित्तिगौ । धाम सु ढिल्ली साज ।। १९६ ।।

शब्दार्थ—जिति = जीतकर, विजय प्राप्त कर। रहि = रहा, डेरा डाला। राज = राजा पृथ्वीराज। जित्तिगौ = जीत ली। धाम = प्रसाद। साज = सजाये गये।

प्रसंग—वीरचन्द की सेना पर विजय प्राप्त करके पृथ्वीराज दिल्ली को प्रस्थान करता है। उसका आगमन सुनकर दिल्ली नगर सजाय जाता।

व्याख्या—चौहानवंशी राजा पृथ्वीराज ने वीरचन्द की चतुरंगिनी सेना पर विजय प्राप्त कर शशिवृता को जीत लिया। दिल्ली की ओर प्रस्थान करते समय सबसे पहले उसने निगमबोध नामक स्थान पर डेरा डाला। उसका आगमन सुनकर उसके स्वागतार्थ दिल्ली के प्रासादों को सम्यक् सजाया गया।

॥ दूहा ॥

सारिन सालै पंस वर । सरि पंस वर भोग ॥
सुबर सूर सामन्त लै । करि ढिल्ली प्रतिभोज ॥

शब्दार्थ—सारिन = सारें। पंस = पासे। वर = वल। भोग = भोगते हैं, चली जाती है। सुबुर = श्रेष्ठ वीर। करि = कर रखा। प्रतिजोग = योग सम्पर्क।

प्रसंग—प्रस्तुत दूहे में कवि यह वताता है कि पृथ्वीराज ने अपने सामन्तों के साथ अपने राज्य में अच्छा सम्पर्क स्थापित कर रखा था।

व्याख्या—जिस प्रकार पासे के वल पर सारें चलती हैं और सारों के अच्छे दाव पर ही पासे की चालें चली जाती हैं, उसी प्रकार राजा पृथ्वीराज ने अपने वीर तामन्तों को लेकर, दिल्ली के राय में अच्छा सम्पर्क स्थापित कर रखा था। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार पासे और सारें परस्पर सम्बद्ध हैं तथा एक के बल पर ही दूसरे का महत्व है, उसी प्रकार सामन्तों के वल पर ही पृथ्वीराज तथा पृथ्वीराज के बल पर सामन्तों का महत्व था।

विशेष—कवि ने निदर्शना अलंकार का आश्रय लेकर अपनी बात स्पष्ट करनी चाही है।

ठिप्पणी—प्रथम पंक्ति में 'सालै के स्थान पर चाऊै' होना चाहिए। 'साल' पाठ रखने से पंक्ति का कोई ठीक अर्थ नहीं निकलता। इसी

प्रकार 'सरि' के स्थान पर 'सारि' होना चाहिए, अन्यथा छन्द भंग हो जायेगा। 'पृथ्वीराज रासो' के अन्य प्रकाशित संस्करणों में 'सालै' के स्थान पर 'चालै' और 'सरि के स्थान पर सारि' पाठ ही मिलते हैं। 'चालै' का अर्थ 'चलना' ओर पंस का अर्थ पासे होगा।

॥ दूहा ॥

जै जै जस लद्धौ सुवर। बैर नृपति सुरतान ॥
सुवर बैर वर बड्ढयौ। सुवर जित्त अहुआँन ॥१९८॥

शब्दार्थ—जै जै जस = विजय-यश। लद्धौ = प्राप्त किया। सुबर = उस समय, तब। बैर = शत्रुता। नृपति = राजा पृथ्वीराज। सुरतान = सुल्तान गोरी। सुवर = सबल, बलशाली (जयचन्द) बड्ढयौ = बढ़ाया। जित्त = विजय प्राप्त की।

विशेष—कवि यह बताना चाहता है कि जब-जब पृथ्वीराज से मुहम्मद गोरी और जयचन्द से सामना हुआ, तब-तब उनके विरुद्ध पृथ्वीराज ने विजय प्राप्त की।

व्याख्या—जब-जब राजा पृथ्वीराज तथा सुल्तान गोरी में शत्रुता हुई, अर्थात् जब-जब पृथ्वीराज का गोरी से युद्ध हुआ, तब-तब पृथ्वीराज ने विजययश को प्राप्त किया। चौहानवंशी पृथ्वीराज ने इसी प्रकार बलशाली कन्नौजेश्वर जयचन्द से घनी शत्रुता बढ़ा ली और जब-जब दोनों में युद्ध हुआ, तब-तब पृथ्वीराज को ही विजय-श्री प्राप्त हुई।

॥ कवित्त ॥

भई जीति चहुआँन। अरिंज भंजे अभंग भर ॥
जै जै सूर वषान। देव नंषैं सुमन्न वर ॥
लै शशिवृता राज। अप्प दिल्ली संपत्तौ ॥
अनि अवनि कौन मंठै मनहु। षग्ग दाग अरिषंडइय ॥
कवि चंद दंद दारुन कयहि। इक अडंड कारि डंडइय ॥१९९॥

शब्दार्थ—जीति = विजय। अरिय = शत्रु, विपक्षी। भंजे = भञ्जन किया, विनाश किया। अभंग भर = अभंग योद्धा, ऐसा वीर जिन्होंने कभी चोट न खाया था। सूर = वीर सामन्त। वषान = कही। नषैं = छोड़े बरसाये। सुमन्न = सुमन, पुष्प। राज = राजा पृथ्वीराज। अप्प = आप, स्वयं। संपत्तौ = प्राप्त हुआ, पहुँचा। अरि = शत्रु। अवनि = अवनी,

पृथ्वी । को = कौन । मंडै = अभिनन्दित करता । षग = खड्ग । दाग = दग्ध कर देता, भस्म कर देता । षंडइय = खण्ड-खण्ड करके । दंद दारुन = भयानक युद्ध । इक = एक को, किसी को । अडंड = अदण्डित । डंडइय = दण्डित करता ।

प्रसंग—पृथ्वीराज के शौर्य एवम् उदारता का वर्णन है ।

व्याख्या—प्रस्तुत युद्ध में चौहानवंशी पृथ्वीराज की विजय हुई । उसने ऐसे-ऐसे विपक्षी योद्धाओं को विध्वस्त कर दिया, जिन्हें युद्ध में कभी घाव ही प्राप्त न हुआ था उसके समस्त वीर सामन्तों ने उसका जय-जयकार किया । देवताओं ने सुन्दर पुष्पदृष्टि की । राजा पृथ्वीराज शशिवृता को लेकर दिल्ली पहुँच गये । पृथ्वी पर ऐसा कौन शत्रु है जो उसका अभिनन्दन करता । वह अपनी तलवार से शत्रुओं को खण्डित करके उन्हें दग्ध कर देता था । कवि चन्द कहता है कि उस भयंकर युद्ध को देखकर शत्रु काँप जाते थे । शत्रुओं को अपने वश में करके वह किसी को अदण्डित तथा किसी को दण्डित करके छोड़ देता था ।

टिप्पणि—कवित्त में छः पंक्तियां होती हैं, किन्तु प्रस्तुत कवित्त में केवल पांच ही पंक्तियां हैं । स्पष्ट है कि एक पंक्ति छूट गयी है । वह छूटी हुई चौथी पंक्ति है, जिसका पाठ कुछ इस प्रकार है—'अति तोरन आनंद, चित्त रतौ रस मत्तौ ।' पंक्ति का अर्थ होगा—(जब पृथ्वीराज शशिवृता को लेकर दिल्ली पहुँचे तो दिल्ली नगर में) बड़ी प्रसन्नतापूर्वक तोरणोत्सव मनाया गया । तदनन्तर रस अर्थात प्रेम से मतवाले पृथ्वीराज का चित्त नवपरिणीता में अनुरक्त हो गया । छन्द की अन्तिम पंक्ति में 'कयहि' के स्थान पर 'कपहि' पाठ ही उपयुक्त है । 'कपहि का अर्थ है 'काँप जाते थे ।' इसी प्रकार 'कारि' के स्थान में करि पाठ ही तर्कसंगत है, क्योंकि कारि पाठ होने से छन्द भंग हो जाता है, उसमें एक मात्रा की वृद्धि हो जाती है । 'पृथ्वीराज रासो' के अन्य संस्करणों में उपरि निर्देशित पाठ ही मिलते हैं । छन्द की पंचम पंक्ति में 'भेद' के स्थान पर 'नमन' पाठ होता तो अधिक अच्छा था । नमन का प्रासंगिक अर्थ होगा —पृथ्वी पर ऐसा कौन सा शत्रु है जो उस पृथ्वीराज को अपना मस्तक न झुकाता ।

—:o:—

परिशिष्ट—१

सहायक पुस्तकों की सूची

१. अपभ्रंश काव्यत्रयी—सम्पादक—श्री लालचन्द्र गाँधी (१९२७ ई०)।
२. अपभ्रंश साहित्य—डॉ० हरवंश कोछड़।
३. अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी को योगदान—डॉ० नामवरसिंह।
४. पृथ्वीराज रासो १-४—साहित्य संस्थान, उदयपुर।
५ पृथ्वीराज रासो विवेचना—साहित्य संस्थान, उदयपुर।
६. काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय।
७. काव्य दर्पण—रामदहिन मिश्र।
८. काव्य समीक्षा—डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त।
९. काशी विद्यापीठ रजत-जयन्ती अभिनन्दन ग्रन्थ।
१०. पृथ्वीराज रासो की कथानक रूढ़ियाँ—व्रजविलास श्रीवास्तव।
११. गद्य-पद्य—सुमित्रानन्दन पन्त।
१२. चन्दवरदाई और उनका काव्य—डॉ० विपिनविहारी त्रिवेदी।
१३. चन्दवरदाई कृत पृथ्वीराज रासो—डॉ० रामचरण महेन्द्र।
१४. डिंगल में वीर रस—श्री मोतीलाल मेनारिया।
१५. डिंगल कोश—कविराज मुरारिदीन।
१६. पद्मावती समय—श्री विश्वनाथ गौड़।
१७. पृथ्वीराज चरित्र—बा० रामनारायण दूगड़।
१८. पृथ्वीराज रासो—नागरी प्रचारिणी सभा।
१९ पृथ्वीराज रासो—सम्पादक—पं० मथुराप्रसाद दीक्षित।
२०. पृथ्वीराज रासो के दो समय—डॉ० भागीरथ मिश्र।
२१. भूषण ग्रन्थावली—नागरी प्रचारिणी सभा।
२२. महाकवि चन्दवरदाई और पदमावती समय—डॉ० राजेन्द्र शर्मा।
२३. मिश्र बन्धु विनोद भाग-१—श्री मिश्रबन्धु।
२४. राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—श्री मोतीलाल मेनारिया।

२५. रासो की भाषा—डॉ० नामवर सिंह।
२६. रेवातट—डॉ० विपिनविहारी त्रिवेदी।
२७. वीर काव्य—डॉ० उदयनारायण तिवारी।
२८. वीर काव्य संग्रह—पं० भागीरथ प्रसाद दीक्षित।
२९. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत।
३०. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी व डॉ०नामवरसिंह
३१. साहित्यालोचन—बा० श्यामसुन्दरदास।
३२. साहित्य-सुमन—सम्पादक—श्री हरशरणदास 'शरण'
३३. सिद्धान्त और अध्ययन—डॉ० गुलाबराय।
३४. हिन्दी के कवि और काव्य भाग-१—श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी।
३५. हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण—डॉ० किरणकुमारी गुप्ता।
३६. पृथ्वीराज रासो के पात्रों की ऐतिहासिकता—डॉ० कृष्णचन्द्र अग्रवाल।
३७. हिन्दी नवरत्न—श्री मिश्रबन्धु।
३८. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप और विकास—डॉ० शम्भूनाथसिंह।
३९. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
४०. हिन्दी साहित्य—डॉ० श्यामसुन्दरदास।
४१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा।
४२. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
४३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
४४. हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
४५. हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।

पत्र-पत्रिकाएं

१. अवंतिका।
२. जनरल आफ एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल।
३. राजस्थान भारती।
४. सरस्वती।
५. साहित्य।
६. आलोचना।
७. नागरी प्रचारिणी पत्रिका
८. सम्मेलन पत्रिका।
९. सरस्वती संवाद
१०. साहित्य सन्देश।

—:०:—